

भ्रष्टाचार

और उसके

समाधान

का सवाल

सोचने के लिए कुछ मुद्दे

आह्वान पुस्तिका-6

भ्रष्टाचार और उसके समाधान का सवाल सोचने के लिए कुछ मुद्दे

आह्वान सम्पादक मण्डल



jkgg Qkm. M\$ku
लखनऊ

ISBN 978-93-80303-51-2

मूल्य : रु. 25.00

पहला संस्करण : अगस्त, 2012

प्रकाशक : राहुल फ़ाउण्डेशन
69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज,
लखनऊ-226 006 द्वारा प्रकाशित

आवरण : रामबाबू

टाइपसेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुद्रक : क्रिएटिव प्रिण्टर्स, 628/एस-28, शक्तिनगर, लखनऊ

***Bhrashtachar Aur Uske Samadhan Ka Sawal: Sochne Ke Liye
Kuchh Mudde***
by Ahwan Editorial Board

प्रकाशकीय

पिछले कुछ समय से भ्रष्टाचार का सवाल एक बड़ा मुद्दा बना हुआ है। इसके समाधान को लेकर कई तरह के आन्दोलन उठ खड़े हुए हैं जिनमें से कुछ पर मीडिया और समाज में काफी चर्चा और बहस भी जारी है। भ्रष्टाचार का सवाल पहले भी भारत में कई बार व्यापक रूप से उठ चुका है, बल्कि कहा जाना चाहिए कि जब भी पूँजीवादी व्यवस्था का संकट गहराता है तब भ्रष्टाचार भी सारी हदें पार करने लगता है और उसे खत्म करने के लिए कई तरह के नुस्खे भी सामने आने लगते हैं।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान देश में आयी घपलों-घोटालों की बाढ़ और कमोबेश इसकी प्रतिक्रिया में उभरे अण्णा हज़ारे और बाबा रामदेव के आन्दोलनों पर काफी कुछ लिखा-पढ़ा जा रहा है। लेकिन इस पूरी परिघटना को समग्रता में और सतह के नीचे जाकर गहराई से समझने की ज़रूरत है।

इसी दृष्टि से 'आह्वान पुस्तिका शृंखला' के तहत हमने यह संकलन तैयार किया है। इसमें पिछले दो दशकों से प्रकाशित हो रही छात्रों-युवाओं की पत्रिका 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' (2008 तक यह 'आह्वान कैम्पस टाइम्स' नाम से प्रकाशित होती थी) में भ्रष्टाचार और अण्णा हज़ारे के आन्दोलन पर प्रकाशित कुछ महत्वपूर्ण लेखों को संकलित किया गया है। इसके साथ ही क्रान्तिकारी मजदूर अख़बार 'मजदूर बिगुल' में इसी विषय पर प्रकाशित सामग्री भी इस संकलन में शामिल की गयी है। बाबा रामदेव पर 'आह्वान' में प्रकाशित एक लेख को परिशिष्ट में शामिल किया गया है।

हमें आशा है कि यह पुस्तिका भ्रष्टाचार और उसके समाधान के सवाल को सही परिप्रेक्ष्य में समझने और इस विषय पर एक सार्थक बहस छेड़ने में मददगार होगी। हमें हमेशा की तरह पाठकों की राय, सुझावों और प्रतिक्रियाओं का इन्तज़ार रहेगा।

— राहुल फ़ाण्डेशन

27 जुलाई, 2012

विषयसूची

भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र का भ्रष्ट-पतित-गन्दा-नंगा चेहरा	7
अण्णा हज़ारे जी के नाम कुछ मज़दूर कार्यकर्ताओं की खुली चिट्ठी	21
अण्णा हज़ारे का आन्दोलन झूठी उम्मीद जगाता है	39
स्वयं एक भ्रष्टाचार है पूँजीवाद	53
अण्णा हज़ारे का भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान और मौजूदा व्यवस्था से जुड़े कुछ अहम सवाल	58
अण्णा हज़ारे का भ्रष्टाचार-विरोधी धर्मयुद्ध : प्रकृति, चरित्र और नियति	92
परिशिष्ट	
रामदेव का स्वाभिमान और खाता-पीता मध्यवर्ग	106

भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र का भ्रष्ट-पतित-गन्दा-नंगा चेहरा

2010 के पूरे वर्ष में कश्मीर में युवा, बच्चे और स्त्रियाँ तक सड़कों पर सेना के विरुद्ध मोर्चा लेते रहे। महँगाई ने नये कीर्तिमान स्थापित किये। उबरने की लाख कोशिशों के बावजूद वैश्विक मन्दी से त्रस्त साम्राज्यवादी देश भारत की प्राकृतिक सम्पदा और श्रम सम्पदा को और अधिक निचोड़ने के मकसद से पूँजी लगाने और माल बेचने के लिए सौदेबाज़ी और होड़ करते रहे। अमेरिकी राष्ट्रपति ओबामा लाव-लशकर सहित आये और भारत को “उभर चुकी ताकत” बता गये। फ़्रांसीसी राष्ट्रपति सरकोज़ी आये और छह ऐसे नये प्रकार के नाभिकीय रिएक्टर बेचने का सौदा कर गये जो अभी कहीं इस्तेमाल ही नहीं हुए हैं। प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने यूरोप की यात्रा की। यूरोपीय संघ के साथ व्यापार समझौते किये और जर्मन चांसलर से वार्ता की। भारतीय बाज़ार विदेशी लूट के लिए और अधिक मुक्त हो गया और साम्राज्यवादी लुटेरों की होड़ का लाभ उठाकर लूट में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए देशी लुटेरों ने भी हर सम्भव कोशिश की। लेकिन सबसे अधिक जो चीजें चर्चा में रहीं और अख़बारों की सुर्खियाँ बनीं, वे थीं – घपले-घोटाले और भ्रष्टाचार के नये-नये कीर्तिमान।

रोज़-रोज़ हडिडियाँ गलाकर भी अपनी बुनियादी ज़रूरतें न पूरी कर पाने वाली आम मेहनतकश आबादी को घोटालों के रहस्योद्घाटनों से ज़्यादा आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि इस व्यवस्था से उसे वास्तव में कोई उम्मीद नहीं है और इसे किसी सुधार के ज़रिये आदर्श बना देने को लेकर भी वह बहुत आशावादी नहीं है। अपने अनुभव से आम मेहनतकश जानते हैं कि पूँजीवाद यदि भ्रष्टाचार-मुक्त भी हो तो मज़दूरों को शोषण-उत्पीड़न से मुक्ति नहीं मिल सकती। घपलों-घोटालों की सुर्खियों पर सबसे अधिक चर्चा वह पढ़ा-लिखा, खाता-पीता मध्यवर्ग करता है, जो मीडिया के प्रचार से सम्मोहन की हद तक प्रभावित होकर सोचता है कि उदारीकरण की प्रगति से भारत बहुत तेज़ी से महाशक्ति बनता जा रहा है और यदि

भ्रष्टाचार और काला धन समाप्त हो जाये तो देश की खुशहाली सुनिश्चित है। मजे की बात यह है कि मध्यवर्ग के यही लोग खुद यदि भ्रष्टाचार का कोई अवसर मिले तो उसे क़तई नहीं छोड़ेंगे, पर उनकी चाहत होती है कि नेता, मन्त्री, अफ़सर आदि भ्रष्टाचार न करें। मध्यवर्गीय अभिजन समाज भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद चाहता है। मज़दूरों के शोषण-उत्पीड़न से या श्रम-क़ानूनों के लागू नहीं होने से उसे ज़्यादा मतलब नहीं होता। महँगाई और बेरोज़गारी की मार मध्यवर्ग के निचले हिस्सों का जब-जब जीना दूभर करते लगती है, तभी उन लोगों (यानी मध्यवर्ग के निचले हिस्से) का पूँजीवाद से मोहभंग शुरू होता है।

बाबा रामदेव जैसे लोग और 'नाक आउट' जैसी फिल्में जब विदेशों में जमा काला धन वापस लाने और राजनीति को भ्रष्टाचार-मुक्त करने की बात करती हैं तो ख़ाते-पीते सफ़ेदपोशों को ऐसी लोकलुभावन बातें बहुत अपील करती हैं। लेकिन, जैसा कि आगे हम तफ़सील से चर्चा करेंगे, इससे अधिक भ्रामक कोई और बात हो ही नहीं सकती। पूँजीवाद भ्रष्टाचार-मुक्त हो ही नहीं सकता। प्रश्न भ्रष्टाचार से मुक्ति का नहीं, बल्कि उत्पादन और राज-समाज के पूँजीवादी तौर-तरीकों और ढाँचे से मुक्ति का है। भ्रष्टाचार रोग नहीं, बल्कि अन्दर से इस व्यवस्था को एक साथ जर्जर और नग्न-निरंकुश जनद्रोही बना रहे रोग का एक लक्षण है। यह अन्दर तक व्याप्त सड़ान्ध को दर्शाता है। जिस व्यवस्था में पूँजीपति वर्ग के सेवक (नेताशाही-नौकरशाही) अपनी बेशुमार सुख-सुविधाओं, विलासिताओं और वैध कमाई के अतिरिक्त इतनी अधिक अवैध कमाई कर रहे हैं, उसमें पूँजीपति वर्ग मेहनतकशों को किस कदर निचोड़ रहा होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

खुशहाल मध्यवर्ग की दृष्टि : 'भ्रष्टाचार कम हो, देश की तरक्की हो, शोषण-उत्पीड़न की कोई बात नहीं'

कभी बोफ़ोर्स घोटाला, कभी चारा घोटाला, कभी पनडुब्बी घोटाला, कभी हवाला तो कभी शेयर-घोटाला – घपले-घोटाले पहले भी अख़बारों की सुख़ियाँ बनते रहे हैं, लेकिन 2010 में, एक वर्ष के भीतर जितने घोटालों का घटाटोप रहा, उतना शायद ही पहले कभी हुआ हो।

कॉमनवेल्थ गेम्स उदारीकरण के दौर के भारत का चेहरा चमकाने और विदेशी पूँजी को लुभाने की एक कोशिश थी, पर अधूरी तैयारियों से भद्द पिटने

के कारण जब जाँच शुरू हुई तो घोटालों और कमीशनखोरी की परत-दर-परत उघड़ने का सिलसिला शुरू हो गया जो अबतक जारी है। लगभग 1 लाख करोड़ रुपये तैयारियों पर खर्च हुए थे, जिसमें से कम से कम 40 प्रतिशत भ्रष्टाचार और कमीशनखोरी में खप गया। भारतीय शासक वर्ग और उसके दूरद्रष्टा राजनीतिक प्रतिनिधि राष्ट्रमण्डल खेलों से सम्भावना-सम्पन्न भारतीय बाज़ार के छवि-निर्माण का वह काम करना चाहते थे जो बीजिंग ओलम्पिक से चीन के शासक वर्ग और विश्वकप फुटबॉल के आयोजन से दक्षिण अफ्रीका के शासक वर्ग ने किया था। ऐसा नहीं हो सका। कमीशनखोरी और भ्रष्टाचार तय सीमा से बाहर चला गया और अनियन्त्रित हो गया। यह व्यवस्था की मशीनरी की अन्दरूनी मजबूरी थी। और तब चीजों को क़ाबू में करने के लिए कुछ क़दम उठाये ही जाने थे। खुले बाज़ार की संस्कृति से चुँधियाया जो भारतीय खाया-पीया-अघाया मध्यवर्ग है, वह “राष्ट्रीय गौरव स्थापित करने वाले महापर्व” के फ़्लॉप शो साबित होने से ज़्यादा दुखी था, और इसलिए भ्रष्टाचारियों को भला-बुरा कह रहा था। उसे इस बात से कोई मतलब नहीं था कि जिस देश में हर रोज़ 40 करोड़ से अधिक लोग भूखे पेट सोते हैं, जहाँ 40 प्रतिशत बच्चे कुपोषित हैं, जहाँ शिशु मृत्यु दर सबसे अधिक है, जहाँ की 77 फ़ीसदी आबादी 20 रुपये रोज़ से भी कम पर गुज़ारा करती है, वहाँ राष्ट्रमण्डल खेलों के नाम पर एक लाख करोड़ रुपये खर्च करना एक अमानवीय, बेशर्म हरकत से कम कुछ भी नहीं है। जनता से उगाहे गये करों से दस दिनों के खेलों की तैयारी और दिल्ली की रौनक पर एक लाख करोड़ खर्च करने वाली सरकार के बजट में कुपोषण समाप्त करने के लिए देश स्तर पर चलायी जा रही समेकित बाल विकास योजना पर खर्च के लिए मात्र आठ हज़ार सात सौ करोड़ रुपये ही हैं। नये-नये, भव्य शॉपिंग मॉलों-मल्टीप्लेक्सों, नयी-नयी कारों, मेट्रो और नित नयी उपभोक्ता वस्तुओं के अवतरण से पुलकित-चकित मध्यवर्गीय उपभोक्ता समुदाय को इस बात से कुछ भी लेना-देना नहीं है कि खेलों की तैयारियों में लगी एजेंसियों ने सभी श्रम क़ानूनों को ताक पर रखकर मजदूरों से काम कराया। खेलों के कार्यस्थलों पर आपराधिक लापरवाहियों के कारण 65 श्रमिकों की मौत हो गयी, जिनकी न्यायिक जाँच से दिल्ली सरकार ने इनकार कर दिया। यही नहीं, खेलों की तैयारियों के दौरान हुई मजदूरों की मौत के बारे में पी.यू.डीआर. के सूचना माँगने पर दिल्ली सरकार का सीधा जवाब था कि उसके पास ऐसी कोई सूचना नहीं है। राजधानी में केन्द्रित “राष्ट्रीय” मीडिया ने सच्चाई के इस पहलू की एकदम अनदेखी की। वह “राष्ट्रीय

गौरव” के भूलुण्ठन पर मध्यवर्गीय चीख-पुकार का भोंपू बना रहा, लेकिन यह तथ्य कहीं कोने-अँतरे में दबकर रह गया कि अतिथि “महामहिमों” के सामने दिल्ली की भव्य तस्वीर प्रस्तुत करने के लिए कम से कम ढाई लाख गरीब लोगों को सरकार ने शहर-बदर कर दिया था। यह तथ्य भी खुशहाल मध्यवर्ग के लिए कोई महत्त्व नहीं रखता कि खेलों की तैयारी में लगी सरकार ने कुल 40 हजार झुग्गी-झोपड़ियों को तोड़कर दो लाख से अधिक लोगों को बेघर कर दिया। दिल्ली की कुल आबादी इस समय 1 करोड़ 30 लाख है। 30 वर्षों तक श्रीलंका में चले गृहयुद्ध में कुल 2 करोड़ आबादी में से तीन लाख लोगों का आन्तरिक विस्थापन हुआ था। इस तरह कहा जा सकता है कि कॉमनवेल्थ गेम्स का आयोजन राजधानी के गरीबों के विरुद्ध सरकार द्वारा छोड़े गये गृहयुद्ध जैसा ही था। अभिजन समाज को इस “गृहयुद्ध” की बर्बरता की चिन्ता नहीं थी। उसका रोना यह था कि भ्रष्टाचार की अति ने “राष्ट्रीय गौरव” की चमक फीकी कर दी। अभिजन समाज भ्रष्टाचार-मुक्त या नियन्त्रित भ्रष्टाचार वाले पूँजीवादी विकास की रौनक का अभिलाषी है, पूँजीवादी अन्याय-उत्पीड़न से उसे कोई शिकायत नहीं। या तो वह इसे उचित ठहराता है, या इसकी अनदेखी करता है या फिर यह कहता है कि ‘इसका और कोई विकल्प सम्भव नहीं।’

कॉरपोरेट युद्ध और व्यवस्था के गहराते संकट से घोटालों के भण्डाफोड़ का रिश्ता

2010 का अन्त हो रहा है 2-जी स्पेक्ट्रम के घोटाले के शोर-शराबे से। टेलीकॉम सेक्टर में कार्यरत कुछ कॉरपोरेट घरानों को लाभ पहुँचाने के लिए तरह-तरह से पक्षपात किया गया और उन्हें ‘दोहरी तकनोलॉजी’ लाइसेंस और स्पेक्ट्रम बेहद सस्ती दरों पर अलॉट कर दिये गये। सी.ए.जी. रिपोर्ट के अनुसार, इससे सरकार को कुल 1 लाख 76 हजार करोड़ रुपये की चपत लगी।

इस बात पर कोई मूर्ख ही यकीन करेगा कि इस सारे घोटाले को सिर्फ इस्तीफा दे चुके संचार मन्त्री ए. राजा, चन्द नौकरशाहों और कम्पनी दलालों (जिन्हें ‘कॉरपोरेट लॉबीस्ट’ कहा जाता है) ने मिलकर अंजाम दिया है। ‘कॉरपोरेट लॉबीस्ट’ नीरा राडिया और रतन टाटा की बातचीत के टेप लीक होने के बाद रहस्य-रोमांच कथा की तरह घोटाले की परतें खुलती जा रही हैं। कई पूर्व और वर्तमान नौकरशाह कठघरे में हैं। न्यायपालिका भी अछूती नहीं

बची है। चेन्नई हाई कोर्ट के न्यायाधीश रघुपति के इस बयान का सुप्रीम कोर्ट के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश बालकृष्णन ने खण्डन किया कि ए. राजा ने जज रघुपति पर किसी मामले में दबाव डाला था और इसकी जानकारी बालकृष्णन को पत्र द्वारा दे दी गयी थी। अब चेन्नई हाई कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश गोखले ने रघुपति के वक्तव्य को सही बताते हुए बालकृष्णन के खण्डन का खण्डन कर दिया है। सुप्रीम कोर्ट ने 2001 से टेलीकॉम क्षेत्र में लाइसेंस आवंटन की जाँच की बात की है। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि टेलीकॉम सेक्टर को निजी कम्पनियों के लिए 1994 में खोले जाने के बाद पहला घोटाला 1995 में कांग्रेसी संचार मन्त्री सुखराम के कार्यकाल के दौरान हुआ था जो 85,000 करोड़ रुपये का था। दूसरे और तीसरे घोटाले राजग गठबन्धन सरकार के दौरान 1999 और 2001 में हुए थे।

निरा राडिया-रतन टाटा टेप लीक होने के बाद टाटा ने इसे निजता के अधिकार का उल्लंघन बताते हुए सुप्रीम कोर्ट में याचिका दाखिल की। मीडिया के एक बड़े हिस्से ने सुर में सुर मिलाया और मनमोहन सिंह ने भी कहा कि टेप लीक नहीं होने चाहिए थे। लेकिन सवाल यह है कि जिस बातचीत में एक पूँजीपति और एक कम्पनी दलाल मन्त्री को प्रभावित करने, पत्रकारों का इस्तेमाल करने और कॉरपोरेट-प्रतिस्पर्धा के बारे में खिचड़ी पका रहे थे, उसे निजी बातचीत कैसे कहा जा सकता है? पर बुनियादी सवालों का दायरा इससे भी कहीं अधिक व्यापक है।

टाटा की याचिका के बाद यू.पी.ए. के घटक दलों की एक बैठक में शरद पवार ने चेतावनी दी कि सरकार यदि बिना “विशेष कारण” के कॉरपोरेट समूहों को निशाना बनायेगी और उनके खिलाफ जाँच एजेंसियों का इस्तेमाल करेगी तो सरकार की स्थिरता खतरे में पड़ सकती है। प्रकारान्तर से शरद पवार पूँजीवादी जनवाद की इस सच्चाई को स्वीकार कर रहे हैं कि कॉरपोरेट समूहों को नाराज करके कोई सरकार स्थिर नहीं रह सकती।

सच्चाई यह है कि हर पूँजीवादी सरकार पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी होती है। जबतक पूँजीपतियों के बीच व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा सामान्य रूप में चलती रहती है और आम हितों के मसलों पर उनकी सहमति का पहलू प्रधान रहता है, तबतक सरकार सहजता से चलती रहती है, मनमुआफ़िक नीतियाँ बनती रहती हैं और नेताशाही-नौकरशाही का “नियन्त्रित भ्रष्टाचार” मुद्दा बनकर उछलता नहीं है। लेकिन पूँजीपति घरानों के बीच टकराव जब उग्र हो जाता है, तब नौकरशाही-नेताशाही-मीडिया मठाधीशों आदि को खरीदने-पटाने का

खेल भी घनघोर हो जाता है तथा नेता-अफसर-पत्रकार भी इसका भरपूर लाभ उठाने लगते हैं। ऐसे ही समय में कम्पनियों की आपसी तकरार के कारण घोटालों के भाँडे फूटने लगते हैं, गुप्त वार्ताओं के टेप बाहर आने लगते हैं, बुर्जुआ मीडिया का एक हिस्सा दूसरे हिस्से की कलाई खोलते हुए पूरे मीडिया तन्त्र को ही नंगा करने लगता है, जाँच एजेंसियाँ सक्रिय हो जाती हैं, कभी-कभी चपेट में आकर न्यायपालिका भी अपनी कथित निष्पक्षता की साख खोने लगती है, संसद ठप्प हो जाती है और सरकार का काम करना मुश्किल हो जाता है। यह ऐसा ही समय है जब पूँजीवादी व्यवस्था के संकट के कारण उसके अन्दरूनी अन्तरविरोध उग्र हो उठे हैं और पूँजीवादी जनवाद की वर्गीय अन्तर्वस्तु उजागर होने लगी है। घुटे-घुटाये बुर्जुआ रानीतिज्ञ शरद पवार को वे दिन याद होंगे जब दो बड़े कॉरपोरेट समूहों के बीच छिड़े युद्ध में फँसकर राजीव गाँधी की सरकार पंगु हो गयी थी। और यह तो उन्हें पता होगा ही कि हथियार बेचने वाले राष्ट्रपारीय निगमों के बीच की लड़ाई भी बोफोर्स घोटाले और पनडुब्बी घोटाले के उजागर होने का एक कारण थी। कॉरपोरेट-युद्ध में शरद पवार स्वयं कुछ कम्पनियों से निकटता के लिए जाने जाते हैं। लवासा बसाने वाली कम्पनी के साथ वे खुलकर खड़े हैं। हाल ही में कुछ रियल एस्टेट कम्पनियों को बैंकों और वित्तीय संस्थाओं द्वारा अनुचित तरीके से दिये गये कर्जों की जाँच और कार्रवाई से भी वे खासे ख़फ़ा हैं।

हर पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार समूचे पूँजीपति वर्ग की 'मैनेजिंग कमेटी' तो होती ही है, अलग-अलग राजनेताओं और नौकरशाहों को अपनी हितपूर्ति के लिए पटाने का काम अलग-अलग पूँजीपति घराने भी ख़ूब करते हैं। यह प्रक्रिया खुली बाज़ार-अर्थव्यवस्था में और अधिक तेज़ हो गयी है। नियम-क़ानून की परवाह किये बिना चुनिन्दा कम्पनियाँ नेताओं-नौकरशाहों को पटाकर सार्वजनिक और राष्ट्रीय संसाधनों को लूट रही हैं, परियोजनाओं और खनन के लिए ज़मीनों के पट्टे और लाइसेंस देते समय नियमों-क़ानूनों को ताक पर धर दिया जा रहा है और राजकीय आतंकवाद जनता को बलपूर्वक उसकी जगह-ज़मीन से उजाड़ दे रहा है। पूँजीवादी जनवादी गणराज्य नंगा होकर 'बनाना रिपब्लिक' जैसा बनता जा रहा है और पूँजीवादी 'क्रोनी कैपिटलिज़्म' (चहेतों का पूँजीवाद) बनता जा रहा है। इस होड़ में जो पीछे छूट रहा है, वह सरराह घपलों-घोटालों का भाँडा फोड़कर पूरी व्यवस्था को ही नंगा करने का काम कर रहा है। दो-तीन दशक पहले, मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी 'पब्लिक सेक्टर' में नेताशाही-नौकरशाही की निर्द्वन्द्व-निरंकुश ताक़त की निन्दा

करते हुए 'प्राइवेटाइज़ेशन' की ज़रूरत पर बल देते थे। पर निजीकरण-उदारीकरण के दो दशकों के दौरान कॉरपोरेट घरानों ने राष्ट्रीय संसाधनों की लूट और क़ानूनों को ताक पर रखकर श्रम सम्पदा के दोहन के लिए नेताओं-अफ़सरों को और अधिक ख़रीदने का काम किया है तथा बिचौलियों-ठेकेदारों-माफ़ियाओं के गिरोह और व्यापक पैमाने पर, और अधिक ताक़तवर होकर उभरे हैं। 'ग्लोबल फ़ाइनेंशियल इण्टीग्रिटी रिपोर्ट' के मुताबिक़ सिर्फ़ 2000-2008 के बीच 125 अरब डॉलर की रक़म काले धन के रूप में देश से बाहर चली गयी। स्विस बैंकिंग एसोसिएशन की 2006 की रपट के अनुसार स्विस बैंकों में भारतीयों का जमा काला धन 1456 अरब डॉलर है। ज्ञातव्य है कि स्वित्ज़रलैण्ड के अतिरिक्त पूरी दुनिया में कम से कम 40 और ऐसे सुरक्षित ठिकाने हैं जहाँ भारतीय धनिकों ने काला धन छिपा रखा है। देश के भीतर जो काला धन और 'अनएकाउण्टेड मनी' मौजूद है, वह बाहर गयी धनराशि से कम नहीं है। नेताओं-अफ़सरों की खरबों की काली कमाई का सालाना निवेश ज़मीन-जायदाद, खनन के पट्टों, शेयर बाज़ार, मीडिया और मनोरंजन जगत, अपंजीकृत और अवैध उद्योगों-व्यापारों, भवन निर्माण, गैरक़ानूनी साहूकारी, स्कूलों-कॉलेजों के धन्धे और सोने-जवाहरात की ख़रीद में होता है। देश की सारी चमक-दमक और बाज़ारों की सारी रौनक खुशहाल मध्यवर्ग की जिस 20 करोड़ आबादी के लिए है, उसकी ऊपरी परत में डॉक्टरों-इंजीनियरों-वरिष्ठ मीडियाकर्मियों के अतिरिक्त सबसे बड़ी तादाद में नेता और अफ़सर शामिल हैं। आश्चर्य नहीं कि जिस देश की 77 प्रतिशत आबादी 20 रुपये रोज़ से कम पर गुज़ारा करती हो वहाँ के 60 फ़ीसदी संसद सदस्य करोड़पति हैं। इसी हिसाब से पूँजीवादी संसदीय जनवाद का खेल भी महँगा हुआ है। एक अनुमान के अनुसार, चुनाव में भागीदारी का प्रति उम्मीदवार औसत खर्च आठ करोड़ रुपये बैठता है। बड़ी पार्टियों के सन्दर्भ में प्रति उम्मीदवार यह औसत खर्च 30 करोड़ रुपये होता है (अमित भादुड़ी का लेख, ईपीडब्ल्यू, 20-26 नवम्बर, 2010, पृष्ठ 10-14)।

जनतन्त्र का यह भद्दा-नंगा ड्रामा तब वीभत्सता की हदों को पार कर जाता है, जब नवउदारवाद के पैरोकार अकादमिक जगत के लोग और "जनमत-निर्माता" अख़बारी कलमघसीट और टीवी चैनलों के बकबकिये 10 या 20 वर्षों में भारत के 'ग्लोबल पॉवर' बन जाने की घोषणा करते हैं, विश्वस्तरीय सुविधाओं वाले पाँच सितारा अस्पतालों-स्कूलों-होटलों और महँगी गाड़ियों-ए.सी.-फ़्रिज-टीवी-कम्प्यूटर-इण्टरनेट-मोबाइल आदि के तेज़ी से

बढ़ते बाज़ार के हवाले देते हैं और इस महागाथा के हाशिये पर भी यह चर्चा नहीं होती कि इस उभरती वैश्विक ताकत के पास इस सदी के मध्य तक कृपोषित, विकलांग और अशिक्षित बच्चों की सबसे बड़ी संख्या होगी। हमारे देश का मध्यवर्गीय अभिजन समाज इसी नये मीडिया की खुराक पर पलने वाला जीव है और मीडिया से परावर्तित हो रही अपनी ही ग्लैमरस छवि से चूंधियाया हुआ है। आसपास के अँधेरे के पर्दे में छुपी सच्चाई उसे नज़र नहीं आती और देश की तरक्की के नाम पर कश्मीर और मणिपुर की जनता के बर्बर सैनिक दमन से लेकर माओवाद से निपटने के नाम पर अपनी ही जनता के विरुद्ध राज्यसत्ता द्वारा छोड़े गये युद्ध तक शासक वर्ग के हर “राष्ट्रवादी प्रोजेक्ट” को समर्थन देने के लिए वह तत्पर खड़ा रहता है।

मीडिया, न्यायपालिका और सेना : शुचिता का मिथक ध्वस्त और हम्माम में सभी नंगे

वर्ष 2010 में पूँजीवादी व्यवस्था के गहराते अन्तरविरोधों का कुछ ऐसा अनियन्त्रित विस्फोट हुआ कि बुर्जुआ मीडिया की वस्तुपरक तटस्थता और सामाजिक सरोकार के सारे दावे-दिखावे हवा में बिखर गये। राडिया-टाटा टेप लीक से यह सच्चाई जगजाहिर हो चुकी है कि **प्रिण्ट मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के जो दिग्गज राष्ट्रीय और सामाजिक सरोकारों का दम भरते हैं तथा किसी भी तरह के दबाव-प्रभाव से ऊपर होने का दावा करते हैं, वे पर्दे के पीछे किस तरह कॉरपोरेट लॉबीस्टों-दलालों के स्टेनोग्राफ़रों की तरह व्यवहार करते हैं और अलग-अलग पूँजीपति घरानों के हितों की पालतू कुत्तों की तरह चौकीदारी करते हैं।** राडिया-टाटा टेप काण्ड से पहले भी इस वर्ष में मध्य तक ‘पेड न्यूज़’ की चर्चा गर्म रही। इस सच्चाई पर विभ्रमग्रस्त बुद्धिजीवी समुदाय काफ़ी क्षुब्ध रहा कि किस तरह न केवल छुटभैये पत्रकार बल्कि कई मीडिया-घराने भी भारी रक़म लेकर अलग-अलग राजनीतिक पार्टियों की प्रचार-सामग्री को समाचार के रूप में प्रकाशित किया करते हैं। निन्दा-भर्त्सना हुई, जाँच और संगोष्ठियाँ हुई, प्रेस कौंसिल, एडिटर्स गिल्ड और पत्रकार यूनियनों ने प्रस्ताव पारित करके नुक़सान के यथासम्भव नियन्त्रण और भरपाई की कोशिश की, पत्रकारिता के मूल्यों की हिफ़ाज़त और बहाली की दुहाई दी गयी और फिर सब शान्त हो गया। तय है कि चुनावों के समय आगे भी ‘पेड न्यूज़’ छपेंगे, पर थोड़ी

सावधानी और पर्देदारी के साथ।

सच्चाई यह है कि पूँजी की ताक़त से संचालित मीडिया का काम ही है – व्यवस्था के पक्ष में जनमत तैयार करना, बुर्जुआ सत्ता का राजनीतिक वर्चस्व स्थापित करना (यानी बुर्जुआ शासन के लिए जनता की “सहमति” हासिल करना), प्रकाशित किये जाने वाले तथ्यों का शासकवर्गीय नज़रिये से चुनाव करना और शासकवर्गीय नज़रिये से प्रस्तुत विश्लेषण को जनमानस में स्थापित करना। साथ ही सुधारमूलक दायरे के भीतर मीडिया व्यवस्था की बुराइयों-कमज़ोरियों की आलोचना का मंच बनकर शासक वर्ग की उपयोगी मदद करता है और जनता के बीच तटस्थता-वस्तुपरकता का भ्रम भी बनाये रखता है। इसे “लोकतन्त्र का चौथा खम्भा” यूँ ही नहीं कहा जाता है। वास्तव में बुर्जुआ राज्यसत्ता के अंगों-उपांगों से अलग होते हुए भी यह उससे निकट से जुड़ा होता है और बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व के उपकरण के रूप में व्यवस्था का स्तम्भ होता है।

मीडिया बुर्जुआ वर्ग के वैचारिक-राजनीतिक वर्चस्व का साधन होने के साथ ही अपनेआप में एक व्यवसाय है, एक उद्योग है जिसमें पूँजी लगाकर कॉरपोरेट घराने प्रबन्धकों व शीर्ष बुद्धिजीवियों को अच्छी सुविधाएँ (निचोड़े गये अधिशेष में से हिस्सा) देकर उनकी मदद से नीचे के कर्मचारियों-मजूदरों के मानसिक-शारीरिक श्रम के दोहन का काम करते हैं। इसके अतिरिक्त मीडिया की तीसरी भूमिका है कम्पनियों और उनके उत्पादित मालों का विज्ञापन छापकर प्रचार करने की। इसके बिना पूँजीवादी बाज़ार चल ही नहीं सकता। नवउदारवाद के दौर में यह तीसरी भूमिका अत्यधिक अहम हो गयी है, लेकिन हर समय में बुर्जुआ मीडिया तीनों काम करता है। **पहला**, बुर्जुआ शासन और सामाजिक ढाँचे के पक्ष में जनमानस तैयार करना, **दूसरा**, एक उद्योग के रूप में मुनाफ़ा कमाना, और **तीसरा**, बाज़ार तन्त्र की मशीनरी में उत्पादों का प्रचार करके बिक्री बढ़ाने के नाते अहम भूमिका निभाना। **जिस** मीडिया जगत में मालिकों के कुल राजस्व का 80 से लेकर 100 प्रतिशत तक विज्ञापनों से आता है और जहाँ सभी बड़े खिलाड़ी कॉरपोरेट घराने हैं, वहाँ पत्रकारों की स्वतन्त्रता की बात सोचना ही बेमानी है। आलोचना की पूँजीवादी जनवादी स्वतन्त्रता वहीं तक है जहाँ तक व्यवस्था की वैधता पर सवाल न उठ खड़े हों और बुराइयों-कमज़ोरियों को सुधारने में मदद मिलती रहे। लेकिन संकट के दौरों में जब कॉरपोरेट युद्ध तेज़ हो जाता है तो अलग-अलग घराने एक-दूसरे पर चोट करते हुए विरोधी की सेवा में सन्नद्ध भाड़े के कलमघसीटों का और

अखबारों-चैनलों का भी असली चेहरा नंगा करने लगते हैं और इस प्रक्रिया में पूरा बुर्जुआ मीडिया ही नंगा हो जाता है जैसा कि अभी हुआ है। व्यवस्था के अन्तरविरोधों की उग्रता के चलते, जब भी ऐसा होता है तो बुर्जुआ वर्ग के घुटे-घुटाये सिद्धान्तकार आगे आते हैं और 'डैमेज कंट्रोल' और साख-बहाली के काम में लग जाते हैं जैसा कि अभी हो रहा है।

मार्क्स ने बहुत पहले ही कहा था कि पत्र-पत्रिकाओं के व्यवसाय की स्वतन्त्रता एक विभ्रम है और उनकी एकमात्र स्वतन्त्रता व्यवसाय न होने की स्वतन्त्रता ही हो सकती है। **लेनिन** ने स्पष्ट कहा था कि पूँजीपतियों के पैसे से चलने वाले अखबार पूँजी की ही सेवा कर सकते हैं। पूँजीवाद में मजदूर वर्ग का अखबार, केवल व्यापक मेहनतकश आबादी से जुटाये गये सहयोग के बूते ही निकल सकता है। अब यह एक अलग सवाल है कि संकटकाल में जनवाद की रामनामी चादर उतार फेंकने के बाद शासक वर्ग ऐसे किसी अखबार को कानूनी तौर पर कब तक प्रकाशित होने देगा! बहरहाल, व्यापक जनसमुदाय के अगुवा दस्ते यदि सजग होते हैं तो वैकल्पिक जन मीडिया संगठित करने के अनेकशः रूप वे हर हाल में विकसित कर लेते हैं।

बर्टोल्ट ब्रेष्ट ने **गोर्की** के प्रसिद्ध उपन्यास '**माँ**' पर आधारित जो नाटक लिखा था, उसमें एक गीत में कहा गया है कि नेता, अफसर, जेलर, पुलिस, बुद्धिजीवी और अखबार ही नहीं बल्कि जज और कानून भी पूँजी और पूँजीवादी ढाँचे की सेवा में सन्नद्ध होते हैं। पूँजीवादी प्रचारतन्त्र न्यायपालिका की तटस्थता का सर्वाधिक महिमामण्डन करता है और उसे प्रश्नों से परे बनाकर प्रस्तुत करता है। सच्चाई यह है कि न्यायपालिका उसी बुर्जुआ संविधान और कानून व्यवस्था से बँधकर न्याय-निर्णय देती है जो पूँजी की सेवा में सन्नद्ध हैं।

न्यायपालिका सर्वोपरि तौर पर सम्पत्ति के अधिकार की हिफाजत की ही गारण्टी करती है। पूँजीवादी शोषण-अन्याय ही सभी सामाजिक अपराधों का स्रोत है और इसके विरुद्ध फ़ैसला कोई अदालत नहीं देती। अदालतों से आम नागरिक को किस हद तक न्याय मिल पाता है और किस हद तक उसके अधिकारों की हिफाजत होती है, यह सच्चाई आज जग ज़ाहिर हो चुकी है। 2010 में व्यवस्था के संकट के बढ़ने और शासक वर्गों के आपसी अन्तरविरोधों के गहराने के साथ ही न्यायपालिका की शुचिता और भ्रष्टाचार-मुक्त होने का मिथक भी रेत की भीत के समान भरभराकर गिर गया। ए. राजा के सन्दर्भ में सुप्रीम कोर्ट के पूर्व मुख्य न्यायाधीश की भूमिका के भी सवालियों के घेरे में आने की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अभी पिछले

ही महीने सुप्रीम कोर्ट के दो न्यायाधीशों मार्कण्डेय काटजू और ज्ञानसुधा मिश्रा ने इलाहाबाद हाईकोर्ट में व्याप्त भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार के विरुद्ध तीखी टिप्पणी की और इलाहाबाद हाईकोर्ट की ओर से याचिका दाखिल करने के बावजूद अपनी टिप्पणी वापस लेने से मना कर दिया। इसके पहले प्रख्यात विधिवेत्ता प्रशान्त भूषण ने एक साक्षात्कार में सुप्रीम कोर्ट के 6 मुख्य न्यायाधीशों पर भ्रष्टाचार का आरोप लगाया। उनके ऊपर न्यायालय की अवमानना का मामला लम्बित है, पर वे अपने आरोप पर अडिग हैं और प्रमाण देने को तैयार हैं। अवमानना मामले में खुद को भी पक्षकार बनाने का आवेदन देते हुए उनके पिता वरिष्ठ अधिवक्ता शान्तिभूषण ने आठ भ्रष्ट मुख्य न्यायाधीशों के नाम एक सीलबन्द लिफाफे में सुप्रीम कोर्ट को सौंपे हैं। इसके पहले उच्चतम और उच्च न्यायालयों के कई जजों के नाम भ्रष्टाचार में उछल चुके हैं और इस समय एक जज पर महाभियोग की प्रक्रिया भी चल रही है। जहाँ तक निचली अदालतों का सवाल है, यह एक 'ओपेन सीक्रेट' है कि वहाँ तहसीलदार और थानेदार के दफ्तरों जितना ही भ्रष्टाचार व्याप्त है। सेना की भ्रष्टाचार-मुक्त छवि शासक वर्ग के "राष्ट्रवादी प्रोजेक्ट" की सफलता के लिए अपरिहार्य है (कॉरपोरेट हितों की हिफाजत और राष्ट्रीय संसाधनों की लूट के लिए अपनी जनता के खिलाफ छोड़े गये युद्ध के अतिरिक्त क्षेत्रीय विस्तारवादी मंसूबों के लिए सामरिक तैयारी - यही है शासक वर्ग का "राष्ट्रवादी प्रोजेक्ट")। सेना राज्यसत्ता का बुनियादी अंग है। राज्यसत्ता की "वर्गोपरि तटस्थता" की छवि बनाये रखने के लिए भी सेना की शुचिता के मिथक को बनाये रखना ज़रूरी है। 2010 में भ्रष्टाचार के भाँडे जब फूटने लगे तो सेना में व्याप्त भ्रष्टाचार भी बेनकाब हो गया। आदर्श हाउसिंग सोसायटी घोटाले में नेताओं-नौकरशाहों के साथ पूर्व सेनाध्यक्ष सहित कई शीर्ष सेनाधिकारियों के भी नाम आये हैं। सुकना ज़मीन घोटाले में भी कई सेनाधिकारी शामिल हैं। सेना की हज़ारों हेक्टेयर ज़मीन पर देशभर में जो अवैध कब्जे हैं, वे कैंटोनमेण्ट के ज़िम्मेदार अधिकारियों की मिलीभगत के बगैर नहीं हो सकते - यह आज आम चर्चा का विषय है। 2010 में ही कुछ चैनलों के स्टिंग ऑपरेशन में वंदी, राशन व अन्य सामानों की सप्लाई में कमीशनखोरी के मामले उजागर हुए। मातहत महिला अधिकारियों और कर्मचारियों के यौन उत्पीड़न के कई मामले पिछले दो वर्षों के दौरान चर्चा में आ चुके हैं। साल के अन्त में एक और घोटाला सुर्खियों में आया। उत्तर प्रदेश में 2004 में बीपीएल, मिड डे मील आदि कई कल्याणकारी योजनाओं के तहत बाँटे जाने के लिए प्राप्त अनाज 42,0249 वैनो के ज़रिये राज्य से बाहर कालाबाज़ारियों को बेच दिया गया

और देश से बाहर नेपाल और बंगलादेश भेज दिया गया। यह घोटाला 90,000 करोड़ रुपये का था। मुलायम सरकार काल के इस घोटाले को मायावती सरकार के अफसर भी जिस मुस्तेदी से दबा रहे हैं, उससे यह सन्देह ही पुख्ता हो रहा है कि गरीबों के हिस्से के अनाज की यह कालाबाजारी और तस्करी आज भी जारी है। भ्रष्टाचार के ऐसे ही आरोपों से कर्नाटक के मुख्यमन्त्री येदियुरप्पा भी घिरे हैं और उनके प्रतिस्पर्द्धी राजनीतिज्ञ और खनन माफिया रेड्डी बन्धु भी।

भ्रष्टाचार के इस पिरामिड में जो ऊपर और मध्यवर्ती संस्तरों के नेता-अफसर-मीडियाकर्मी हैं, वे राष्ट्रीय संसाधनों की लूट की छूट देने की एवज में कॉरपोरेट घरानों से कमीशन पाते हैं और सार्वजनिक क्षेत्र की सम्पदा की स्वयं लूट-खसोट करते हैं। इस लूट का सारा बोझ मेहनतकश जनता ही उठाती है। पूँजीपति घूस और कमीशन को मजदूर से निचोड़े जाने वाले अधिशेष में जोड़ लेते हैं और राष्ट्रीय संसाधनों को लूटने के लिए सालाना करोड़ों लोगों को उनकी जगह-जमीन से उजाड़ देते हैं। जो सार्वजनिक क्षेत्र की लूट है वह भी जनता को ही निचोड़ती है, क्योंकि समूचा सार्वजनिक क्षेत्र जनता की गाढ़ी कमाई से ही खड़ा किया गया है। लेकिन बात यहीं खत्म नहीं होती। भ्रष्टाचार के पिरामिड में जो नीचे के पायदान पर खड़े छुटभैये अफसर और दफ्तरों के रिश्वतखोर बाबू हैं, वे हर छोटे-मोटे काम और बुनियादी सेवाओं के लिए आम लोगों से रिश्वत लेते हैं। ट्रांसपैरेंसी इण्टरनेशनल के आँकड़ों के अनुसार, भारत के गरीब आम लोग बुनियादी सेवाओं के लिए हर साल 900 करोड़ रुपये रिश्वत के रूप में देते हैं।

भ्रष्टाचार की महागाथा के निचोड़ के तौर पर कुछ बातें...

भ्रष्टाचार की इस महागाथा के समाहार के तौर पर यही कहा जा सकता है कि पूरी तरह से भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद मध्यवर्गीय मुँगेरीलाल के हसीन सपने से अधिक कुछ भी नहीं है। जहाँ वैध लूट होगी, वहाँ अवैध लूट भी होगी। काला धन सफ़ेद धन की ही जारज सन्तान होता है। जैसा कि उपन्यासकार बाल्ज़ाक ने कहा था, हर सम्पत्ति-साम्राज्य अपराध की ही बुनियाद पर खड़ा होता है। सामान्यतः यह अपराध सफ़ेदपोश और “क़ानून-सम्मत” होता है लेकिन इसके एक हिस्से से सफ़ेदपोशी और वैधता का आवरण उतर भी जाता है।

पूँजीवादी जनवाद की नौटंकी का सारांश यह होता है कि सरकारें

पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी होती हैं, संसद बहसबाज़ी का अड्डा होता है, नौकरशाही शासन और शोषण की नीतियाँ बनाती है और लागू करती है, जज न्याय की नौटंकी करते हुए सम्पत्ति के अधिकार की सुरक्षा करते हैं और सेना-पुलिस हर विद्रोह को कुचलने के लिए चाक-चौबन्द रहती है। इन सभी कामों में लगे हुए लोग पूँजीपतियों के वफ़ादार सेवक होते हैं और सेवा के बदले उन्हें ऊँचे वेतन-भत्तों और विशेषाधिकारों का मेवा मिलता है। जो भी इस जमात में शामिल होता है, उसे यह समझते देर नहीं लगती कि वह लुटेरों का सेवक है। लुटेरों के सेवकों से नैतिकता और सदाचार की उम्मीद कतई नहीं की जा सकती। शोषित-उत्पीड़ित जनों को भरमाते-ठगते-दबाते और कुचलते हुए जहाँ भी उन्हें मौका मिलता है वे अपनी भी ज़ेब गर्म करने से बाज़ नहीं आते। वे पूरे बुर्जुआ वर्ग के सेवक होते हैं, पर पूँजीपति घरानों की आपसी होड़ का लाभ उठाकर इस या उस घराने से दलाली और कमीशन की मोटी रक़म ऐंठने से भी बाज़ नहीं आते। कॉरपोरेट घरानों की यही होड़ उग्र हो जाती है तो एक-दूसरे को नुक़सान पहुँचाने और नंगा करने की कोशिश में ये ऐसी कुत्ताघसीटी मचाते हैं कि पूरी व्यवस्था नंगी हो जाती है। उग्र होते अन्तरविरोध जब शासक वर्ग और उसके प्रतिनिधियों की इच्छा और नियन्त्रण से स्वतन्त्र होकर पूरी व्यवस्था की असलियत उजागर करने लगते हैं तो फिर 'डैमेज कण्ट्रोल' की प्रक्रिया शुरू की जाती है। जाँच एजेंसियाँ छापे मारने लगती हैं, कुछ को बलि का बकरा बनाया जाता है। मीडिया कुछ आदर्शवादी अफ़सरों और चुनावी राजनीति के बाहर सक्रिय सुधारवादी (प्रायः एनजीओ-पन्थी) सामाजिक कार्यकर्ताओं को नायक बनाकर प्रस्तुत करता है। कभी शोषण, कभी ख़ैरनार, कभी अण्णा हज़ारे, वी.पी. सिंह तो कभी रामदेव भ्रष्टाचार-विरोधी मुहिम का मसीहा बनकर सामने आते हैं, कुछ 'व्हिसल ब्लोअर्स' व्यवस्था के दामन पर लगी गन्दगी को धोने में लग जाते हैं। ये पूँजीवादी शोषण से मुक्ति की बात नहीं करते बल्कि भ्रष्टाचार को हर बुराई की जड़ बताते हैं। ऐसे 'श्रीमान सुथरा जी' लोग भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद के ही पैरोकार होते हैं और इस व्यवस्था की ही एक सुरक्षा-पंक्ति होते हैं।

भ्रष्टाचार पूँजीवादी समाज की एक सार्विक परिघटना है। जहाँ लोभ-लाभ की संस्कृति होगी वहाँ मुनाफ़ा निचोड़ने की हवस वैधिक दायरों को लाँघकर, जैसे भी हो, दोनों हाथों से लूटने की तार्किक परिणति तक पहुँच ही जायेगी। भ्रष्टाचार पश्चिम के समृद्ध देशों में भी है लेकिन उनके मुकाबले भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी देशों में इसका चरित्र ज़्यादा नंगा, फूहड़ और जनद्रोही है। कारण कि इन देशों में जनता की जनवादी चेतना के पिछड़ेपन के कारण

सामाजिक चौकसी की कमी है जिसके चलते नेता-अफसर-दलाल अपना काम बेशर्मी व ढिठाई के साथ अंजाम देते हैं। देशी-विदेशी कॉरपोरेट घरानों के लिए रिश्वत देना भी यहाँ अधिक सुगम होता है। नेताशाही-अफसरशाही में शामिल मध्यवर्ग में और बुद्धिजीवियों में जनवादी मूल्य बहुत कम हैं और उत्तरऔपनिवेशिक दौर के गुज्रते दशकों के दौरान वे ज़्यादा से ज़्यादा जनविमुख होते चले गये हैं। मध्यवर्ग का जो हिस्सा राजनीति या प्रशासनिक सेवाओं में आता है, वह या तो स्वयं नेताओं-नौकरशाहों की औलाद होता है या पुराने सामन्ती कुलीनों की नयी पीढ़ी का सदस्य होता है। वह जनता की हड्डियाँ निचोड़कर रुग्ण-विलासी जीवन जीना चाहता है और पीढ़ियों तक के लिए सुख-सुविधा की गारण्टी कर लेना चाहता है। आम घरों के जो थोड़े-से लोग इन क़तराओं में शामिल होते हैं, वे भी अपना पक्ष बदलकर धन-सम्पत्ति जुटाने में लग जाते हैं और कभी-कभी तो इस दौड़ में पुराने कुलीनों के वारिसों को भी पीछे छोड़ देते हैं।

मौजूदा नवउदारवादी दौर में तमाम बुर्जुआ जनवादी मूल्यों-आदर्शों के छिलके पूँजीवाद के शरीर से स्वतः उतर गये हैं। सरकार खुले तौर पर पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी के रूप में कार्यरत दिख रही है। कमीशनखोरी, दलाली, लेनदेन – सबकुछ पूँजी के 'खुला खेल फ़रूखाबादी' का हिस्सा माना जाने लगा है। 2010 में घपलों-घोटालों का जो घटाटोप सामने आया है, वह पूँजीवाद के असाध्य ढाँचागत आर्थिक संकट और उसके गर्भ से उपजे राजनीतिक-सांस्कृतिक-नैतिक संकट की एक अभिव्यक्ति है, परिणाम है और लक्षण है।

यह पूरा विवरण एक स्वयंसिद्ध प्रमेय है जो बताता है कि यह पूरी व्यवस्था सिर से पाँव तक सड़ चुकी है और मेहनतकश जनसमुदाय के सामने एकमात्र विकल्प यही है कि वह पूँजीवादी संसदीय जनवाद की इस अँधेरगर्दी और लूटतन्त्र को सिरे से खारिज कर दे। भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ाई अपनेआप में कोई स्वतन्त्र लड़ाई नहीं है। यह पूँजीवादी-व्यवस्था विरोधी संघर्ष के एक हिस्से के रूप में ही लड़ी जानी चाहिए। यह जनता की जनवादी चेतना को उन्नत करने और उसके जनवादी अधिकार की लड़ाई का ही एक अहम मुद्दा है। हमारा काम इस व्यवस्था के दामन पर लगे दागों को धोना नहीं हो सकता। "भ्रष्टाचार-मुक्त शोषण" हमारा लक्ष्य नहीं हो सकता। भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष को राज्यसत्ता के चरित्र को उद्घाटित करने और उसके विरुद्ध व्यापक संघर्ष की एक कड़ी बनाया जाना चाहिए।

(सम्पादकीय, मज़दूर बिगुल, दिसम्बर 2010)

अण्णा हज़ारे जी के नाम कुछ मज़दूर कार्यकर्ताओं की खुली चिट्ठी

मिले,
श्री अण्णा हज़ारे
ग्राम एवं पोस्ट रालेगण सिद्धि
तालुका पारनेर, ज़िला अहमदनगर
महाराष्ट्र

आदरणीय अण्णा हज़ारे जी,

हम आपके सामाजिक सरोकारों और जनजीवन से जुड़ी चिन्ताओं की इज़्ज़त करते हैं। आपकी भ्रष्टाचार-विरोधी मुहिम से सारा देश परिचित है। राजनेताओं नौकरशाहों-जजों के भ्रष्टाचार पर नियन्त्रण के लिए जन लोकपाल क़ानून बनाने की आपकी माँग सरकार मान चुकी है और अब सरकार और “सिविल सोसाइटी” के प्रतिनिधियों की साज़्जा ड्राफ़्टिंग कमेटी विधेयक का मसौदा तैयार करने में जुट गयी है। भ्रष्टाचार के खिलाफ़ अपनी मुहिम को आप देश स्तर पर फैलाने और आगे बढ़ाने की घोषणा कर चुके हैं। चुने हुए जन प्रतिनिधियों को वापस बुलाने के प्रावधान की भी आपने माँग की है। पढ़े-लिखे लोगों की अच्छी-खासी आबादी आपकी मुहिम को “एक नयी क्रान्ति” का आगाज़ तक बता रही है। कुछ नेता और बुद्धिजीवी शंकाएँ और विवाद भी उठा रहे हैं। पर हम लोगों के मन में कुछ और सवाल उमड़-घुमड़ रहे हैं। इन सवालों की ज़मीन आम मेहनतकशों की ज़िन्दगी की समस्याएँ हैं। आप लोकतान्त्रिक परम्परा और पद्धति के पक्षधर व्यक्ति हैं। हमारा भरोसा है कि हमारे सवालों को यँ ही दरकिनार नहीं कर देंगे और स्वस्थ और खुले ढंग से इन पर एक देशव्यापी बहस सम्भव हो सकेगी।

भ्रष्टाचार का सामना हम आम ग़रीब लोग अपनी रोज़-रोज़ की ज़िन्दगी में सबसे अधिक करते हैं। क़दम-क़दम पर छोटे से छोटे काम के लिए जो

रिश्वत हमें देनी पड़ती है, वह रकम खाते-पीते लोगों को तो कम लगती है, मगर हमारा जीना मुहाल कर देती है। भ्रष्टाचार केवल कमीशनखोरी और रिश्वतखोरी ही नहीं है। सबसे बड़ा भ्रष्टाचार तो यह है कि करोड़ों मजदूरों को जो थोड़े बहुत हक-हकूक श्रम क़ानूनों के रूप में मिले हुए हैं, वे भी फ़ाइलों में सीमित रह जाते हैं और अब उन्हें भी ज़्यादा से ज़्यादा बेमतलब बनाया जा रहा है। अदालतों से ग़रीबों को न्याय नहीं मिलता। पूँजी की मार से छोटे किसान जगह-ज़मीन से उजाड़कर तबाह कर दिये जाते हैं और यह सब कुछ एकदम क़ानूनी तरीक़े से होता है! जिस देश में 40 प्रतिशत बच्चे और 70 प्रतिशत माताएँ कुपोषित हों, 40 प्रतिशत लोगों का 'बॉडी मास इण्डेक्स' सामान्य से नीचे हो, 18 करोड़ लोग झुगिगियों में रहते हों और 18 करोड़ बेघर हों, वहाँ सत्ता सँभालने के 64 वर्षों बाद भी सरकार यदि जीवन की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी नहीं उठाती (उल्टे उन्हें घोषित तौर पर बाज़ार की शक्तियों के हवाल कर देती हो), तो इससे बड़ा विधिसम्मत सरकारी भ्रष्टाचरण भला और क्या होगा? इससे अधिक अमानवीय "क़ानूनी" भ्रष्टाचरण भला और क्या होगा कि मानव विकास सूचकांक में जो देश दुनिया के निर्धनतम देशों की पंगत में (उप-सहारा के देशों, बंगलादेश, पाकिस्तान आदि के साथ) बैठा हो, जहाँ 70 प्रतिशत से अधिक आबादी को शौचालय, साफ़ पानी, सुचारु परिवहन, स्वास्थ्य सेवा तक नसीब न हो, वहाँ संविधान में "समाजवादी लोकतान्त्रिक गणराज्य" होने का उल्लेख होने के बावजूद सरकार ने इन सभी ज़िम्मेदारियों से हाथ खींच लिया हो और समाज से उगाही गयी सारी पूँजी का निवेश पूँजीपति 10 फ़ीसदी आबादी के लिए आलीशान महल, कारों-बाइकों-फ़्रिज-ए.सी. आदि की असंख्य किस्में, लकदक शॉपिंग मॉल और मल्टीप्लेक्स आदि बनाने में कर रहे हों तथा करोड़पतियों-अरबपतियों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही हो।



रिश्वतखोरी, कमीशनखोरी, टैक्स चोरी, मिलावटखोरी, भाई-भतीजावाद भला कौन चाहेगा? यदि ये न होते तो अच्छा ही होता। लेकिन अण्णाजी, माफ़ करें, हमारा सवाल तो यह है कि भ्रष्टाचार मात्र इसी का नाम नहीं है। भ्रष्टाचार और अनैतिकता का फ़ैसला क़ानूनी-ग़ैरक़ानूनी होने से नहीं, बल्कि इस बात से तय होता है कि कोई सामाजिक-राजनीतिक आचरण व्यापक जनहित के अनुकूल है या

प्रतिकूल। थोड़ी देर के लिए मान लें कि एकदम विधिसम्मत तरीके से एक कारखानेदार किसी चीज़ के उत्पादन और आपूर्ति का ठेका लेता है और श्रम कानूनों का पालन करते हुए मजदूर की श्रम शक्ति आठ या दस घण्टे के लिए खरीदता है, उतने मूल्य का उत्पादन तो मजदूर दो या तीन घण्टे में ही कर देता है, शेष मूल्य जो वह पैदा करता है उसमें से कच्चे माल की कीमत, मरम्मत-मेन्टेनेंस आदि का खर्च निकालने के बाद बची रकम पूँजीपति का मुनाफ़ा होता है जिसका निवेश करके वह नये कारखाने खोलता है, नयी मशीनें लाता है। मजदूर जो पैदा करता है, उस पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं होता। पूँजीपति उसे उतना ही देता है जितने में वह ज़िन्दा रहकर, न्यूनतम ज़रूरतें पूरा करके काम करता रह सके। पूँजीवाद में उत्पादन सामाजिक उपभोग के हिसाब से नहीं बल्कि मुनाफ़े के हिसाब से निर्देशित होता है। पूँजीपति कई होते हैं। मुनाफ़े की प्रतिस्पर्धा गलाकाटू होती है। बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को निगलकर डकार भी नहीं लेती। मुनाफ़ा बढ़ाने की होड़ में पूँजीपति मजदूरों से ज़्यादा से ज़्यादा काम कराने की तरकीबें निकालते हुए मजदूरों द्वारा हासिल क़ानूनी हक़ों को भी हड़प लेते हैं, जबरिया सिंगल रेट ओवरटाइम कराते हैं। सुरक्षा उपकरण, स्वास्थ्य मुआवज़े आदि मदों के खर्चों को मार लेते हैं, फिर टैक्स भी चुरा लेते हैं तथा नेताओं-अफ़सरों को रिश्वत भी खिलाते हैं। **मतलब यह कि पूँजीवादी लूट-खसोट की होड़ जब क़ानूनी दायरे में होती है तब भी वह आम मेहनक़शों के हक़ मारती है और फिर यह होड़ क़ानून की चौहद्दी को लाँघ जाती है तो रिश्वतख़ोरी-कमीशनख़ोरी के रूप में समाज में काले धन का अम्बार इकट्ठा करने लगती है और विलासी नेताओं-अफ़सरों-दलालों का बिचौलिया तबक़ा भी चाँदी काटने लगता है।**

थोड़ा और आगे बढ़ें। मुनाफ़े की रफ़्तार बढ़ाने के लिए पूँजीपति फिर उन्नत मशीनें और नयी तकनीकें लाता है, कम मजदूरों से ज़्यादा उत्पादन लेता है, बाक़ी मजदूरों को बाहर निकाल देता है। मजदूरों की बेरोज़गारी बढ़ने से उनकी मोलतोल की ताक़त घट जाती है और वे और अधिक कम मजदूरी पर काम करने को तैयार हो जाते हैं। **ब्लैकमेलिंग का यह काम भी एकदम क़ानूनी तरीके से होता है।** पूँजी बटोरकर प्रतिस्पर्द्धी को पीछे छोड़ने के लिए पूँजीपति बैंक से जनता की बचत उधार लेते हैं, एक से दस बनाते हैं और उसका एक अत्यन्त छोटा हिस्सा ब्याज के रूप में वापस करते हैं। यह धोखाधड़ी भी क़ानूनी ढंग से होती है। फिर वे शेयर बाज़ार से पूँजी बटोरने उतरते हैं, पहले शेयर का क़ानूनी खेल होता है फिर वही तर्क नियन्त्रण से बाहर जाकर ग़ैरक़ानूनी सट्टेबाज़ी को परवान चढ़ाता है। **पूँजी बढ़ाने की यह**

होड़ ही हवाला कारोबार, गैरक़ानूनी कारख़ानों और तमाम गैरक़ानूनी कारोबारों को जन्म देती है और फिर अपराध को भी एक संगठित कारोबार बना देती है। माल बेचने के लिए अरबों-खरबों खर्च करके विज्ञापनों द्वारा जो भ्रामक प्रचार किये जाते हैं, वह भी क़ानूनी ठगी नहीं तो भला और क्या है?

पूँजीवाद की समूची कार्यप्रणाली का विवरण न तो यहाँ सम्भव है, न ही हमारा यह उद्देश्य है। पहली बात हम यह कहना चाहते हैं कि जिस पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन सामाजिक उपभोग को केन्द्र में रखकर नहीं बल्कि मुनाफ़े को केन्द्र में रखकर होता है, वह यदि एकदम क़ानूनी ढंग से काम करे तो भी अपनेआप में ही वह भ्रष्टाचार और अनाचार है। जो पूँजीवाद अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक गति से धनी-ग़रीब की खाई बढ़ाता रहता है, जिसमें समाज की समस्त सम्पदा पैदा करने वाली बहुसंख्यक श्रमिक आबादी की न्यूनतम ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो पातीं, वह स्वयं एक भ्रष्टाचार है। जिस पूँजीवादी लोकतन्त्र में उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे को चलाने में सामूहिक उत्पादकों की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं होती और निर्णय की ताक़त वस्तुतः उनके हाथों में अंशमात्र भी नहीं होती, वह एक 'फ़्रॉड' है। जो पूँजीवादी राजनीतिक तन्त्र नागरिकों को काम करने का मूलभूत अधिकार नहीं देता और सम्पत्ति को मूलभूत अधिकार का दर्जा देता है, वह स्वयं में एक भ्रष्टाचार है! हम मेहनतकश अपने अनुभव से जानते हैं कि पूँजीवाद यदि भ्रष्टाचार-मुक्त हो जाये, तो भी मजदूरों को शोषण-उत्पीड़न से मुक्ति नहीं मिल सकती।

दूसरी बात जो हम कहना चाहते हैं, वह यह कि भ्रष्टाचार की मात्रा घटती-बढ़ती रह सकती है, लेकिन पूँजीवाद कभी भ्रष्टाचार-मुक्त नहीं हो सकता! भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद एक मिथक है, एक मध्यवर्गीय आदर्शवादी यूटोपिया है। यदि किसी सदाचारी पूँजीवाद का अस्तित्व भी होता तो वह आम मेहनतकश जन के लिए, और उसकी निगाहों में, अनाचारी-अत्याचारी-भ्रष्टाचारी ही होता। हर पूँजीवादी लोकतन्त्र में सरकारें मूलतः पूँजीपतियों की 'मैनेजिंग कमेटी' की भूमिका निभाती हैं। संसद बहसबाज़ी का अड्डा होती है जहाँ पूँजीपतियों के हित में और जनदबाव को हल्का बनाकर लोकतन्त्र का नाटक जारी रखने के लिए वही क़ानून बनाये जाते हैं जो (सदन में बहुमत के बूते) सरकार चाहती है और पूँजीवाद के सिद्धान्तकार जिनका खाका बनाते हैं। राज्यसत्ता का सैन्यबल हर जन विद्रोह को

कुचलने को तैयार रहता है, साथ ही वह वैश्विक-क्षेत्रीय चौधराहट के मसलों को युद्ध के ज़रिए हल करने के लिए भी सन्नद्ध रहता है। न्यायपालिका न्याय की नौटंकी करते हुए पूँजीपतियों के हित में बने क़ानूनों के अमल को सुनिश्चित करती है, मूलतः सम्पत्ति के अधिकार और सम्पत्तिवानों के विशेषाधिकारों की हिफ़ाज़त का काम करती है तथा शासक वर्गों के आपसी झगड़ों में मध्यस्थ की भूमिका निभाती है। इन सभी कामों में लगे हुए लोग पूँजीपतियों के वफ़ादार सेवक होते हैं और सेवा के बदले उन्हें ऊँचे वेतनभत्तों और विशेषाधिकारों का मेवा मिलता है। यदि वे सिर्फ़ इस मेवे पर ही निर्भर रहें तो आम लोगों के मुक़ाबले उनका जीवन 'स्वर्ग का जीन' होता है। लेकिन व्यवस्था के भीतर पैठने के बाद वे समझ जाते हैं कि वे लुटेरों के सेवक मात्र हैं। पूँजीवादी शासन-प्रशासन की विराट मशीनरी में यदि कोई सदाचारी अफ़सर हो भी तो वह कुछ व्यक्तियों का कल्याण भले कर सकता है, 'सिस्टम' को ज़रा भी नहीं बदल सकता। उसकी बिसात महज एक कल-पुर्ज की होती है और यह समझने के साथ ही आदर्शवादियों का आदर्शवाद हवा हो जाता है। वे भी "रास्ते पर आ जाते हैं"। लुटेरों के सेवकों से नैतिकता, सदाचार और देशभक्ति की उम्मीद नहीं की जा सकती। तमाम सम्पत्तिधारी परजीवियों के हितों की "क़ानूनी" ढंग से रक्षा करते हुए, उन्हें जहाँ भी मौक़ा मिलता है, अपनी भी ज़ेब गर्म कर लेते हैं। समूचे पूँजीपति वर्ग के प्रबन्धकों और सेवकों के समूह के कुछ लोग, पूँजीपति घरानों की आपसी होड़ का लाभ उठाकर इस या उस घराने से रिश्तत, दलाली और कमीशन की मोटी रक़म ऐंठते ही रहते हैं। पूँजीपतियों की यह आपसी होड़ जब उग्र और अनियन्त्रित होकर पूरी व्यवस्था की पोल खोलने लगती है, और बदहाल जनता का क्रोध फूटने का एक बहाना मिलने लगता है तथा "लूट के लिए होड़ के खेल" के नियमों को ताक पर रख दिया जाता है तो व्यवस्था-बहाली और "डैमेज कण्ट्रोल" के लिए पूँजीपतियों की संस्थाएँ (फिक्की, एसोचैम, सी.आई.आई. आदि), पूँजीवादी सिद्धान्तकार, समाजसुधारक आदि चिन्तित हो उठते हैं। जो पूँजीपति स्वयं अपने हित के लिए कमीशन देते हैं, वे भी अलग-अलग और समूह में बढ़ते भ्रष्टाचार पर चिन्ता ज़ाहिर करते हैं, सरकार की गिरती साख को बहाल करने के लिए सामूहिक तौर पर चिन्ता प्रकट करते हैं और पूँजीवाद को "भ्रष्टाचार-मुक्त" बनाने की मुहिम में लगी स्वयंसेवी संस्थाओं की उदारतापूर्वक फ़ण्डिंग करते हैं। कभी कोई नेता, कभी कोई अफ़सर, तो कभी कोई समाजसेवी भ्रष्टाचार-विरोधी मुहिम का मसीहा और 'हिसल ब्लोअर' बनकर सामने आता है जो पूँजीवादी शोषण-उत्पीड़न की व्यवस्था का विकल्प

सुझाने के बजाय भ्रष्टाचार को ही सारी बुराई की जड़ बताने लगता है और मौजूद ढाँचे में कुछ सुधारमूलक पैबन्दसाज़ी की सलाह देते हुए जनता को दिग्भ्रमित कर देता है। इन 'हिसल ब्लोअर' की नीयत यदि एकदम सही भी हो तो वे तरह-तरह के डिटर्जेंट लेकर इस व्यवस्था के दामन पर लगे धब्बों को धोने की ही भूमिका अदा करते हैं। वे भ्रम का कुहासा छोड़ने वाली चिमनी, जनाक्रोश के दबाव को कम करने वाले 'सेफ्टीवॉल्व' और व्यवस्था के पतन की सरपट ढलान पर बने 'स्पीड ब्रेकर' की ही भूमिका निभाते हैं।

अण्णाजी, हमें आपकी नीयत पर भी शक नहीं है। पर व्यवस्था की कार्यप्रणाली, भ्रष्टाचार के मूल कारण और समस्या के समाधान की आपकी समझदारी पर हमारे सवाल हैं। भ्रष्टाचार पूँजीवादी समाज की सार्विक परिघटना है। जहाँ लोभ-लाभ की संस्कृति होगी, वहाँ मुनाफ़ा निचोड़ने की हवस क़ानूनी दायरों को लाँघकर खुली लूटपाट और दलाली को जन्म देती ही रहेगी। जनता को भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद नहीं चाहिए बल्कि पूँजीवाद से ही मुक्ति चाहिए। जहाँ क़ानूनी शोषण और लूट होगी, वहाँ ग़ैरक़ानूनी शोषण और लूट भी होगी ही। काला धन सफेद धन का ही सगा भाई होता है।

फ़्रांसीसी उपन्यासकार **बाल्ज़ाक** ने यँ ही नहीं कहा था कि हर सम्पत्ति- साम्राज्य अपराध की बुनियाद पर खड़ा होता है। दूर क्यों जायें? हम जन लोकपाल बिल की ड्राफ़्टिंग कमेटी में शामिल शान्तिभूषण-प्रशान्तभूषण का ही उदाहरण लेते हैं। हम अमर सिंह के आरोपों और उनके द्वारा प्रस्तुत सीडी के असली-फ़र्जी होने, स्टाम्पचोरी जैसे आरोपों की चर्चा नहीं कर रहे हैं। पर यह तो सच है कि बसपा विधायकों का दलबदल कराने को लेकर मुलायम सिंह पर चल रहे मुकदमे में शान्तिभूषण उनके वकील थे। यह तो सच है कि एक-एक पेशी के लिए शान्तिभूषण 25 लाख रुपये की फीस लेते हैं। प्रशान्तभूषण भी लाखों में ही लेते हैं। आपके मंच पर समर्थन देने आये राम जेठमलानी की भी यही स्थिति है। क्या शुचिता मात्र यही है कि शान्तिभूषण जी अपनी फीस का पूरा हिसाब रखते हैं और टैक्स देते हैं। सवाल क्या यह नहीं है कि इतने मँहगे वकील कितने ग़रीबों को न्याय दिला सकते हैं? क्या कुछ राजनीतिक क़ैदियों को ज़मानत दिला देने, कुछ जनहित याचिकाएँ दाखिल कर देने और जन लोकपाल बिल का मसौदा बनाने में भागीदार हो जाने से सारा पाप-प्रक्षालन हो गया? जिस देश में 77.5 फीसदी आबादी 20 रुपये रोज़ से कम पर जीती हो और जीवन की बुनियादी सुविधाओं से भी वंचित है, वहाँ

किसी व्यक्ति के पास एक अरब 36 करोड़ रुपये की दौलत और आठ अचल सम्पत्तियाँ (शान्तिभूषण की सम्पत्ति) क्या आपनेआप में अनाचार नहीं है? प्रशान्तभूषण और राम जेटमलानी जैसों की सम्पत्ति भी करोड़ों में है। शान्तिभूषण या राम जेटमलानी जिन कॉरपोरेट घरानों के मुकदमों की पैरवी पेशे के नाम पर करते हैं, वे घराने मजदूरों की हड्डियाँ निचोड़कर और टैक्स चोरी करके ही अकूत धन जुटाते हैं और फिर अपने हितों की क़ानूनी हिफ़ाज़त के लिए शान्तिभूषण जैसे वकीलों को मोटी फ़ीस देते हैं। **बाबा रामदेव** भ्रष्टाचार के विरुद्ध ऊँची आवाज़ में बोलते हैं। आपके मंच पर भी आकर समर्थन जता गये। क्या उनके ट्रस्टों द्वारा संचालित प्रतिष्ठानों में जो मजदूर काम करते हैं, उन्हें श्रम क़ानूनों के अनुसार सारी सुविधाएँ दी जाती हैं? अभी दिलीप मण्डल के ब्लॉग से यह जानकारी मिली कि **अरविन्द केजरीवाल** की दो एन.जी.ओ. संस्थाओं को टाटा घराने के ट्रस्टों से अनुदान मिलते हैं। भ्रष्टाचार की ही बात करें तो टाटा-राडिया टेप की याद दिलाना मात्र काफ़ी होगा। टाटा की जो भी सम्पदा है वह मजदूरों से अधिशेष निचोड़कर ही संचित हुई है।

जो “सिविल सोसाइटी” भ्रष्टाचार-विरोध की मुहिम में सबसे अधिक मुखर है, वह एक कुलीन मध्यवर्गीय सुधारवादी आन्दोलन है जिसके कर्त्ता-धर्त्ता एन.जी.ओ. हैं, जिनकी फ़ण्डिंग देशी पूँजीपतियों के ट्रस्टों के अतिरिक्त उन्हीं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा स्थापित फ़ण्डिंग एजेंसियों से होती है, जो पूरी दुनिया के कच्चे माल को लूटकर, मजदूरों को निचोड़कर, हथियार से लेकर दवाएँ तक बेचकर अकूत मुनाफ़ा कमाती हैं, तेल के लिए विनाशकारी युद्ध करवाती हैं, सरकारों का तख़्तापलट कराती हैं, और पर्यावरण को तबाह करती हैं। दूसरी ओर यही कम्पनियाँ मुनाफ़े की लूटमार से मचने वाली तबाही को नियन्त्रित करने के लिए, जनता को दिग्भ्रमित और शान्त करने के लिए, पूँजीवाद के अन्तरविरोधों को विस्फोटक होने से बचाने के लिए दान देती हैं, सामाजिक आन्दोलनों का मंच संगठित करने में पीछे से पैसा लगाती हैं, सुधारमूलक कार्रवाइयाँ करती हैं और भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम को समर्थन देती हैं। बिल गेट्स, वारेन बफेट्स, अज़ीम प्रेमजी, टाटा – सभी चैरिटी करते हैं। यह आज से नहीं हो रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी से ही यही चलन है।

अब “सिविल सोसाइटी” यानी “नागरिक समाज” के बारे में कुछ और बातें। ज़ाहिर है कि यह “नागरिक समाज” समरूपी मानव समाज नहीं है।

वैधिक तौर पर नागरिक होते हुए भी हम मेहनतकशों की बहुसंख्यक आबादी इसमें वस्तुतः शामिल ही नहीं है। यह मध्यवर्गीय कुलीन सुधारवादी बुद्धिजीवियों के मुखर सामाजिक संस्तर से निर्मित हुआ है जो हमारे स्वयंभू प्रतिनिधि बनकर जनहित और समाज-सुधार की बातें करते रहते हैं, पूँजीवादी प्रतिष्ठानों से वित्तपोषित गैर-सरकारी संस्थाएँ बनाते हैं और क़िस्म-क़िस्म के सामाजिक आन्दोलन करते रहते हैं। “सिविल सोसायटी” के लोग पूँजीवाद के अन्तरविरोधों को इसकी चौहद्दी के भीतर ही हल करते रहते हैं। पूँजीवादी शोषण और संचय से पैदा होने वाले अन्तरविरोध उग्र होकर पूरे ढाँचे के लिए और पूँजीवादी लोकतन्त्र के लिए खतरा न बन जायें, इसके लिए “सिविल सोसायटी” के प्रतिनिधि लगातार सचेष्ट रहते हैं।

प्रबोधनकाल के दार्शनिकों ने पहली बार जब “नागरिक समाज” की अवधारणा प्रस्तुत की तो मध्ययुगीन प्राकृतिक समाज के बरक्स यह एक प्रगतिशील अवधारणा थी। प्रारम्भिक बुर्जुआ समाज में नागरिक समाज चर्च और सामन्ती बन्धनों से मुक्त होकर वैयक्तिक हितों की अभिव्यक्ति का क्षेत्र भी था और साथ ही बुर्जुआ वर्ग-वर्चस्व (सहयोजन के साथ प्रभुत्व) स्थापित करने का खुला क्षेत्र भी। बुर्जुआ समाज के सुदृढीकरण के साथ ही “नागरिक समाज” वर्ग हितों के संगठनों का समुच्चय और बुर्जुआ वर्ग-वर्चस्व का संगठित उपकरण बन चुका था। यँ कहा जा सकता है कि राज्य या “राजनीतिक समाज” (“क़ानूनी” सरकार जिसका अंग है) जहाँ बुर्जुआ वर्ग के प्रत्यक्ष प्रभुत्व या नियन्त्रण का काम करता है, वहीं “नागरिक समाज” के बैनर तले प्रभुत्वशाली वर्गों के “अधीनस्थ” बुद्धिजीवी आम जनों पर उसका वैचारिक-सामाजिक वर्चस्व स्थापित करने का काम करते हैं। बुर्जुआ वर्ग को राज्यसत्ता के प्रत्यक्ष प्रभुत्व एवं नियन्त्रण के अतिरिक्त अपनी व्यवस्था के लिए जनता की “सहमति” हासिल करने की और जनता को यह अहसास दिलाने की भी ज़रूरत होती है कि चूँकि और कोई विकल्प सम्भव नहीं है, इसलिए वह पूँजीवादी लोकतन्त्र में ही सुधारों की पैबन्दसाज़ी करने और बुराइयों को नियन्त्रित करने के ‘मेकेनिज़्म’ बनाते रहने का काम करती रहे।

सोचने की बात है कि “सिविल सोसाइटी” के लोग उचित न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे, दुर्घटनाओं के उचित मुआवज़े और श्रम क़ानूनों के क्रियान्वयन को लेकर (ये भी तो सुधार के ही मुद्दे हैं) मज़दूरों के “गाँधीवादी” तर्ज़ पर जनान्दोलन भी क्यों नहीं संगठित करते? दरअसल इस “नागरिक समाज” में हम मेहनतकश आते ही नहीं।



अण्णाजी, जन लोकपाल की अवधारणा पर भी हमारी कुछ शंकाएँ हैं। यदि जन लोकपाल पद बन जाये, उसके दायरे में प्रधानमन्त्री, सुप्रीम कोर्ट — सभी को ला दिया जाये और जन लोकपाल को बहुत बड़ा स्टाफ़ दे दिया जाये तो भी ऊपर से लेकर नीचे ब्लॉक ऑफ़िस तक व्याप्त भ्रष्टाचार पर वह नियन्त्रण कैसे कायम कर सकेगा? स्वरूप चाहे जो भी हो, एक स्वायत्त, प्रशासकीय, केन्द्रीकृत नियामक तन्त्र द्वारा भ्रष्टाचार पर रोक एक भ्रम है! स्वायत्तता इस बात की क़तई गारण्टी नहीं देती कि ऐसा तन्त्र स्वयं भ्रष्ट नहीं होगा या पूँजी के दबाव से मुक्त रह सकेगा। ऐसे किसी तन्त्र द्वारा भ्रष्टाचार पर रोक की सोच कुछ वैसी ही है जैसे किसी “प्रबुद्ध निरंकुश” शासक द्वारा समाज को प्रगति पथ पर ले जाने की सोच। आप तो गाँधीवादी हैं। स्वयं गाँधी भी विकेन्द्रण के पक्षधर थे। यदि नीचे से ऊपर तक जन पहलकदमी और जननिगरानी का तन्त्र न हो, यदि सभी प्रशासनिक कामों पर भी जनता की चुनी हुई कमेटियों का नियन्त्रण न हो, तो भ्रष्टाचार रोका ही नहीं जा सकता। ऐसा केवल तभी सम्भव हो सकता है जब उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे पर उत्पादन करने वाले सामूहिक तौर पर क़ाबिज़ हों और फ़ैसले की ताक़त वास्तव में उनके हाथों में हो।

भ्रष्टाचार केवल रिश्वतखोरी ही नहीं है। ग़रीबों को न्याय नहीं मिलता, विचाराधीन क़ैदी जेलों में बूढ़े हो जाते हैं, सामाजिक जीवन में हर क़दम पर हैसियत की ताक़त से चीज़ों का फ़ैसला होता है। भ्रष्टाचार के अनगिनत रूप हैं। बिना सामाजिक ढाँचे में आमूलगामी बदलाव के, मात्र कुछ प्रशासकीय इन्तज़ामों से उन्हें समाप्त किया ही नहीं जा सकता। सरकारों और सरकारी विभागों के अतिरिक्त, अन्य जगहों पर जो भ्रष्टाचार है, उसका निराकरण कैसे होगा?

जैसी पहले भी चर्चा की जा चुकी है, भ्रष्टाचार पूँजीवाद की सार्विक परिघटना है। यह पश्चिम के समृद्ध देशों में भी है, लेकिन भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी देशों में इसका चरित्र ज़्यादा नंगा और फूहड़ है। जिन यूरोपीय देशों में जन लोकपाल (ओम्बड्समैन) जैसी संस्थाएँ मौजूद हैं वहाँ भी भ्रष्टाचार का उन्मूलन नहीं हो सका है। स्वीडन, नार्वे, हालैण्ड आदि जिन देशों में भ्रष्टाचार कम है और आम जनता को भी (धनी-ग़रीब के अन्तर के बावजूद) ज़्यादा सुविधापूर्ण जीवन हासिल है, वहाँ की हथियार कम्पनियाँ और दवा कम्पनियाँ पूरी दुनिया के बाज़ार से अकूत मुनाफ़ा कूटने, सरकारों को कमीशन देने और ग़रीब देशों की जनता पर गुपचुप दवाओं के जानलेवा प्रयोग करने के लिए कुख्यात हैं। यानी जो पूँजीवादी समाज सापेक्षतः “भ्रष्टाचार-मुक्त” और

“शरीफ़ाना” चेहरे वाले हैं, वहाँ के पूँजीपति तो और अधिक जघन्य आपराधिक कार्रवाइयों में लिप्त हैं।



अब आप यह भी कह रहे हैं कि चुनाव-प्रणाली में सुधार के लिए चुने हुए प्रतिनिधियों को वापस बुलाने का प्रावधान और मत पत्र पर सभी उम्मीदवारों को खारिज करने का विकल्प भी होना चाहिए। क्षमा करें, हमें तो यह भी एक पैबन्दसाज़ी ही लगती है। वास्तविक जनवाद तो तभी होगा जब हर नागरिक को चुनने सहित चुने जाने का भी अवसर मिले। जबतक संसद-विधानसभाओं के बड़े-बड़े निर्वाचक मण्डल होंगे तबतक चुनाव में पैसे की ताक़त की भूमिका बनी रहेगी। होना यह चाहिए कि गाँवों और मुहल्लों के स्तर पर प्रतिनिधि सभा पंचायतें चुनी जायें जो अपने स्तर पर प्रशासकीय और न्यायकारी दायित्व भी सँभालें और ऊपर के पंचायती स्तर के लिए प्रतिनिधि भी चुनें। इस तरह नीचे से ऊपर तक शासन-प्रशासन की एक पिरामिडीय संरचना होगी, चुनावों का खर्चा नाममात्र का रह जायेगा, विधायी एवं कार्यकारी काम जनप्रतिनिधियों के एक ही निकाय के हाथों में होंगे, जन निगरानी तन्त्र नौकरशाही की निरंकुशता को समाप्त कर देगा तथा सत्ता के केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण में द्वन्द्वात्मक सन्तुलन स्थापित हो जायेगा, पर केन्द्रीय स्तर पर भी शासन-प्रशासन की व्यवस्था सामूहिक, पारदर्शी और जन निगरानी के मातहत होगी। इतने आमूलगामी बदलाव के बाद ही चुनाव प्रणाली और शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार मिटाया जा सकता है और ऐसा बदलाव स्वामित्व और उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली के मौजूद रहते सम्भव ही नहीं।

आदरणीय अण्णाजी, स्वामी रामदेव कहते हैं कि विदेशों में मौजूद सारा काला धन देश में वापस आना चाहिए (1948 से 2008 के बीच कुल 213.2 बिलियन डॉलर काला धन बाहर हस्तान्तरित हो चुका है) और मीडिया जोड़-घटाव करके बताता है कि इससे देश की कितनी ज़बर्दस्त तरक्की हो सकती है? सुप्रीम कोर्ट भी इस दिशा में कड़े कदम उठाने का निर्देश देता है। पर हमारे मन में तो बहुतेरी शंकाएँ उठती हैं और यह सबकुछ लोकलुभावन वायदों का खेल लगता है। मध्यवर्गीय देशभक्ति के खुमार में डूबे लोगों की झुँझलाहट मोल लेकर भी हम कहना चाहेंगे कि विभिन्न आकलनों के हिसाब से, जितना काला धन देश के बाहर है, उससे अधिक देश के भीतर है। पहले सरकार उसे ही क्यों नहीं जनकल्याण के कामों में लगा देती है! इसके अलावा, पुराने राजे-रजवाड़ों ने खरबों की पारिवारिक सम्पत्ति ट्रस्ट आदि

बनाकर बचा ली है। टैक्स चोरी और काले धन को सफ़ेद करने के लिए ही सभी व्यावसायिक घराने ट्रस्ट बनाते हैं और खरबों के वारे-न्यारे हर वर्ष करते हैं। मठों-महन्तों-मन्दिरोँ के ट्रस्ट-आश्रमों के पास अकूत चल-अचल सम्पत्ति सदियों से पड़ी है और रोज़ बढ़ती जा रही है। क्या इन सबको नियन्त्रण में लेकर सरकार स्कूल, अस्पताल, सड़क, खाद्यान्न सुरक्षा, आवास आदि योजनाओं में लगा सकती है? — कतई नहीं। ‘सम्पत्तिधारियों की मैनेजिंग कमेटी’ सम्पत्ति-हरण नहीं कर सकती, वह मुनाफ़े और पूँजी संचय के खेल में आयी अराजकता को नियन्त्रित कर सकती है, पर न तो इस खेल को बन्द करा सकती है, न ही उसके नियम बदल सकती है।

विदेशों में जो काला धन जमा है, वैसे तो उसे वापस लाने में सैकड़ों अन्तरराष्ट्रीय क़ानूनी अड़चनें हैं और इस प्रक्रिया के लागू होने तक उसके बड़े हिस्से को फिर से छुपा देने के रास्ते भी हैं। चलिए, थोड़ी देर को मान लेते हैं कि देश के भीतर और देश के बाहर का सारा काला धन जनकल्याण के कामों और विविध निर्माण कार्यों में लगा दिया जाये, तो वह सारा काम नौकरशाहों और ठेके लेने वाली बड़ी कम्पनियों से लेकर विदेशी कम्पनियों के नेटवर्क द्वारा ही होगा। काला धन पूँजी बनकर मजदूरों को निचोड़ने के काम आयेगा, ठेकों में कमीशनखोरी होगी, कामों में घपला होगा और विकास कार्यों की प्राथमिकताएँ समाज के शक्तिसम्पन्न तबकों द्वारा ही तय होंगी। यानी कुछ पूँजीवादी विकास हो भी जाये तो शोषण-उत्पीड़न असमानता बढ़ने की प्रक्रिया यथावत जारी रहेगी, कमीशनखोरी-रिश्वतखोरी की नीचे से ऊपर तक बनी शृंखला जनलोकपाल की दूरबीनों-खुर्दबीनों के बावजूद कार्यरत रहेगी और काले धन का अम्बार फिर से इकट्ठा होने लगेगा। पर पहली बात तो यही है कि देश-विदेश में छिपे काले धन को कुछ पूँजीपतियों और सरकार के चाहने पर भी न तो बाहर निकालकर जनहित के कामों में लगाया जा सकता है न ही काले धन की संचय-प्रक्रिया रोकी जा सकती है। सवाल यहाँ कुछ लोगों की नीयत का नहीं है, पूँजीवादी मशीनरी की कार्यविधि का है। इसीलिए, ऊपर हमने विस्तार से चर्चा की है कि भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद एक मृगमरीचिका है, एक भ्रामक मिथक है और यह कि पूँजीवाद (एकदम विधिसम्मत ढंग से काम करे तो भी) अपनेआप में भ्रष्टाचार है, अनाचार है।

आदरणीय अण्णाजी, हम विनम्रतापूर्वक यह अप्रिय बात कह डालना चाहते हैं कि आपके भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन के चमत्कारी छवि-निर्माण में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने बहुत बड़ी भूमिका निभायी। मंच से उचित ही आप सभी लोग मीडिया वालों को बार-बार धन्यवाद दे रहे थे और “लोकतन्त्र का

सजग प्रहरी”, “चौथा खम्भा” आदि बताते नहीं थक रहे थे। यदि स्थानाभाव नहीं रहता तो हम तथ्यों और आँकड़ों सहित बताते कि पूँजी से संचालित इन चैनलों को अपराध, डकैती, सनसनी, गन्दे मसाले सबकुछ बेचकर पैसे कमाने हैं। इनमें लगे मीडियाकर्मी केवल बौद्धिक उजरती मजदूर हैं। उन्हें थोड़ा सामाजिक सरोकार भी दिखाने की इजाजत है क्योंकि वह भी बिकता है। मीडिया थोथे आदर्श भी बेचता है, छद्म नायकत्व का मिथक गढ़ता है और उसे भी बेचता है क्योंकि मिथ्या आशाओं की तलाश में भटकते मध्यवर्ग में (जो इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का सबसे बड़ा उपभोक्ता है और उसमें विज्ञापित सामग्रियों का सबसे बड़ा खरीदार है) थोथे आदर्श, छद्म नायकत्व और जनविरोधी यूटोपियाओं का ज़बर्दस्त मार्केट है।

हम आपके अनशन पर जन्तर-मन्तर गये थे। पहले वहाँ इससे काफ़ी बड़े मजदूरों के प्रदर्शन हो चुके हैं। दस वर्षों से मणिपुर से स्पेशल आर्डर्ड फ़ोर्सेज ऐक्ट हटाने के लिए अनशन कर रही इरोम शर्मिला भी कुछ दिनों जन्तर-मन्तर पर थीं। मीडिया ने कभी उन्हें तूल नहीं दिया। पर आपके साथ कुछ हज़ार लोगों के बैठने पर उन्हें जन्तर-मन्तर को भारत का ‘तहरीर चौक’ तक घोषित कर दिया। देश के कई शहरों में सिविल सोसाइटी के कुछ लोग प्रतीकात्मक धरने पर दिखे तो आन्दोलन को देशव्यापी बना दिया गया।

हम पहले भी कह चुके हैं कि आपके आन्दोलन ने पूँजीवाद की जड़ों पर चोट करने के बजाय सेफ़्टीवॉल्व का काम किया है, व्यवस्था की आन्तरिक गति से पैदा हुई अराजकता (काले धन और भ्रष्टाचार का अनियन्त्रित हो जाना) को काबू में लाकर “खेल के नियमों” को बहाल करने की कोशिश की है। पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी के रूप में काम करने वाली सरकार की अपनी विवशता थी, पर अन्ततः वह झुक गयी क्योंकि इससे व्यवस्था की साख बहाल हुई। सभी दूरद्रष्टा पूँजीवादी सिद्धान्तकार भी यही चाहते थे। सरकार चलाने वाली कांग्रेस पार्टी की एक तात्कालिक मजबूरी थी। कई विधानसभाओं के चुनाव सिर पर थे और वोट बैंक के खेल की मजबूरियों को देखते हुए वह कोई जोखिम नहीं मोल लेना चाहती थी।

अण्णाजी, आपके आन्दोलन में दिल्ली और निकटवर्ती इलाकों की करीब एक करोड़ मजदूर आबादी का प्रतिनिधित्व तो न के बराबर था (क्या वे “नागरिक समाज” से बहिष्कृत अनागरिक हैं?) हाँ, शहरी मध्यवर्ग के सभी संस्तरों के लोगों का समर्थन था और भागीदारी थी। पर ये लोग भी अपने अलग-अलग बोध और अलग-अलग धारणाओं के साथ आपके

आन्दोलन के समर्थन में आये थे।

इनमें सबसे मुखर कुलीन बुद्धिजीवी समुदाय के लोग थे, जो मानते हैं कि चूँकि पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है, इसलिए वे एन.जी.ओ. बनाकर सिविल सोसाइटी के नुमाइन्दे बनकर “सोशल मूवमेण्ट” चलाकर इसी व्यवस्था को ‘मानवीय चेहरा’ देने में जुटे रहते हैं। पूँजीवादी लोकतन्त्र को वे आर.टी.आई., जनहित याचिका आदि के द्वारा थोड़ा जवाबदेह और प्रभावी बनाना चाहते हैं, इस व्यवस्था के भीतर अपनी बुराइयों को ठीक करते रहने के लिए ‘नियन्त्रण-सन्तुलन-भूलसुधार’ की एक स्वचालन प्रणाली जोड़ना चाहते हैं। कुल मिलाकर ये लोग पूँजीवाद के अन्तरविरोध को असमाधेय बनाने से रोकने वाले लोग हैं और उसके सबसे दूरन्देश रणनीतिकार हैं। इन भद्र लोकतान्त्रिक जीवों के एजेण्डे में श्रम कानूनों के उल्लंघन, मजदूरों की नारकीय गुलामी आदि मुद्दे नहीं आते। ग़रीबों के लिए इनके पास बस कुछ राहतों-रियायतों के टुकड़े हैं। इनकी “पार्टीसिपेटरी डेमोक्रेसी” और “सिविल सोसायटी” का दायरा 75 करोड़ शहरी-देहाती सर्वहाराओं-अर्द्ध सर्वहाराओं के जीवन को यदि कहीं छूता भी है, तो ‘माइक्रो क्रेडिट’ के ज़रिए महाजनी करने तक जाता है, या फिर विदेशी फण्डिंग से कुछ सुधार कार्यक्रम चलाकर ग़रीबों को याचक बनाकर उनकी वर्ग चेतना को भ्रष्ट और कुन्द बनाने तक जाता है।

ये “सिविल सोसाइटी” वाले एक और काम करते हैं। पूँजीवादी राजनीति का विकल्प क्रान्तिकारी जन राजनीति के रूप में प्रस्तुत करने के बजाय ये उसे ही राजनीति का एकमात्र रूप बताते हैं और उससे जनता में नफ़रत पैदा करते हुए सामाजिक आन्दोलनों के विकेन्द्रित समुच्चय के दबाव को ही हर मर्ज़ का इलाज़ बताते हैं। इस प्रकार वे जनता की चेतना का ख़तरनाक ढंग से अराजनीतिकीकरण करते हैं और उसे इस ऐतिहासिक सच्चाई की समझ से दूर करते हैं कि क्रान्तिकारी ढंग से राजनीतिक ढाँचे पर नियन्त्रण करके (यानी पुराने को तोड़कर, नया क्रान्तिकारी राजनीतिक ढाँचा बनाकर) ही शोषणकारी अन्यायपूर्ण आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों को बदला जा सकता है। दरसल, “सिविल सोसाइटी” के स्वयंभू प्रतिनिधि शोषित जनों की मुक्ति की कोई सांगोपांग परियोजना प्रस्तुत करने के बजाय महज़ इसी ढाँचे के भीतर गति-विमन्दकों, तनाव-शैथिल्यकों, सुरक्षा-वाल्वों, निगरानी चौकियों और प्रहार-चूसक कुशनों की एक प्रणाली प्रस्तुत करते हैं क्योंकि पूँजीवादी लोकतन्त्र उनके लिए सार्विक, निरपेक्ष लोकतन्त्र का आदर्श ढाँचा है। क्या आश्चर्य कि ऐसे लोगों में करोड़पति वकील, पत्रकार, साधु-सन्त आदि शामिल हैं और इनका पुरजोर

समर्थन टाटा, बजाज, गोदरेज, अजीम प्रेमजी, मैनेजमेण्ट गुरू अरिन्दम सेन और तमाम मुम्बइया करोड़पति अभिनेता आदि करते हैं।

आपके आन्दोलन के दूसरे भागीदार वे विचारहीन, अर्द्धफासिस्ट मानसिकता के चिकने चेहरे वाले युवा (बी.पी.ओ. और कारपोरेट सेक्टर के कर्मी, मैनेजमेण्ट-मीडिया-कम्प्यूटर साइंस-मेडिकल-इंजीनियरिंग आदि के छात्र) थे जो मँहगी कारों और बाइकों पर तिरंगा लहराते, 'लगान' या 'स्वदेश' के देशभक्ति के फिल्मी गाने गाते टी.वी. स्क्रीन पर देखे जा सकते थे। या उदारीकरण-निजीकरण के उन विचारहीन, मजदूर-विरोधी मध्यवर्गीय युवाओं का मानवद्रोही चेहरा है, जो मानते हैं कि यदि भ्रष्टाचार नहीं होता तो भारत अमेरिका बन जाता और बंगलूर-गुडगाँव-हैदराबाद-पुणे में कई 'सिलिकॉन वैली' बन जाते। इन लोगों को आम गरीब आदमी की बदहाली का न तो कारण पता है, न ही उससे कोई मतलब है। यदि गरीब बदहाल हैं तो उसका कारण या तो उनकी काहिली है या भ्रष्टाचार। इनका मानना है कि पूँजीवादी प्रतिस्पर्द्धा तो प्रगति का मूल है, बस 'फ़ेयर प्ले' होना चाहिए, भ्रष्टाचार नहीं। इनका मानना है कि सबको बराबरी तो दी ही नहीं जा सकती। 'सर्वाइवल ऑफ़ दि फ़िटेस्ट' का ही सिद्धान्त चलता है। यह आबादी गाँधी के सादगी के सिद्धान्त, आपकी गाँधी टोपी और रामदेव द्वारा विदेशी उपभोक्ता सामग्री के बहिष्कार के नारे में भी दिलचस्पी नहीं रखती। उसे बस भ्रष्टाचार के खात्मे और काले धन की देश-वापसी से पैदा होने वाले तरक्की के अवसरों की ललक है। उनकी कल्पना के "स्वर्गिक गणराज्य" से गरीब मेहनतकश उत्पादक समुदाय उसी तरह बहिष्कृत है जैसे रोमन गणराज्यों के नागरिक समुदाय से दास और किसान।

आपके आन्दोलन का तीसरा भागीदार शहरी निम्नवर्ग का एक मासूम, कूपमण्डूक परेशानहाल तबक़ा भी था, जो कम तनख्वाह, नगण्य बचत, कर्ज़, बेटे की बेरोज़गारी, बेटा की शादी, भविष्य की अनिश्चितता आदि को लेकर परेशान रहता है। रोज़मर्रा के जीवन में उसका साबका भ्रष्टाचार से पड़ता है और वह मीडिया में घपलों-घोटालों-काले धन-कमीशनखोरी की ख़बरों के घटाटोप को पढ़ता रहता है। मेहनतकशों की ज़िन्दगी से फिर भी उसकी दूरी है, अलगाव है। उसकी मिथ्या चेतना सारी समस्याओं की जड़ राजनीतिक-प्रशासनिक भ्रष्टाचार में देखती है। उसकी जड़ों की तलाश वह पूरी व्यवस्था की कार्यप्रणाली में नहीं देख पाता। मुक्ति की किसी सांगोपांग परियोजना की उसकी समझ नहीं है। ऐसी बातों का प्रचार उस तक पहुँचता भी कम है। अपनी ज़िन्दगी से परेशान

मसीहा की तलाश में वह शिरडी, पुट्टपार्थी, हरिद्वार जाता है, पराभौतिक शक्तियों की शरण लेने वैष्णो देवी और बालाजी जाता है और उसे लगता है कि जन्त-मन्तर पर कोई गाँधी प्रकट हुए हैं जिन्होंने भ्रष्टाचारियों को सबक सिखाने का बीड़ा उठा लिया है तो भावविभोर होकर वहाँ भी जा पहुँचता है।



अण्णाजी, आप तो गाँधीवादी हैं। आपको सिर्फ़ भ्रष्टाचार मिटाने और जन लोकपाल बनाने के बजाय मुहिम को उस मुकाम से आगे बढ़ाना चाहिए जहाँ गाँधी ने अपने अन्तिम दिनों में छोड़ा था। आपको तो सवाल उठाना चाहिए कि (1) किसी करोड़पति को भारत के लोगों का जनप्रतिनिधि होने का अधिकार होना ही नहीं चाहिए, (2) जनप्रतिनिधियों और नौकरशाहों की तनख़्वाहें- सुविधाएँ एक औसत मध्यवर्गीय नागरिक के जीवन-स्तर से अधिक होनी ही नहीं चाहिए, (3) मन्त्रियों-सांसदों-विधायकों को राजधानियों के आलीशान बँगलों से बाहर आम ग़रीबों की बस्तियों में नहीं तो कम से कम मध्यवर्गीय कालोनियों के स्तर के आवास दिये जाने चाहिए और कुछ दिनों तक जनता के बीच उनका रहना और काम करना अनिवार्य होना चाहिए, (4) नौकरशाही को हर स्तर पर जन निगरानी कमेटियों के नियन्त्रण में काम करना चाहिए तथा टेण्डर-ठेका और प्रशासनिक निर्णय का हर काम सामूहिक, खुले और पारदर्शी तरीके से होना चाहिए, (5) आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क आदि सभी काम सरकारी विभागों द्वारा होना चाहिए और इसमें ठेका-पट्टी या निजी क्षेत्र का कोई स्थान नहीं होना चाहिए, (6) कारों का उत्पादन बन्द करके सार्वजनिक परिवहन को दुरुस्त किया जाना चाहिए, विलासिता की सभी सामग्रियों का उत्पादन, मॉल, मल्टीप्लेक्स, लग्ज़री रिसॉर्ट का निर्माण तबतक बन्द कर देना चाहिए जबतक समूची जनता की बुनियादी ज़रूरतें पूरी नहीं हो जातीं, (7) 'समान शिक्षा सबको रोज़गार' अनिवार्यतः लागू होना चाहिए...आदि आदि।

अण्णाजी, यहाँ हम कोई समाजवाद का कार्यक्रम अपनाने की राय आपको नहीं दे रहे हैं। पर आज के समय में एक सच्चे गाँधीवादी का भी यही काम बनता है। क्या सरकार ने श्रम क़ानूनों के रूप में (चाहे वे जितने भी लचर हों) मज़दूरों से काग़ज़ों पर जो वायदे-क़रार किये हैं उन्हें लागू करने के लिए जनजागरण करना और सत्याग्रह करना आपके गाँधीवादी-मानवतावादी आदर्शों के सर्वथा अनुकूल नहीं है? दुनिया के सबसे अधिक बेघरों, कुपोषितों, बाल मृत्यु दर और जीवन के बुनियादी सुविधाओं से वंचित लोगों के इस देश

के सत्ताधारी इसी जनता से निचोड़े गये धन से इतने हथियार खरीदते हैं कि आज भारत सबसे बड़ा हथियार-आयातक देश बन गया है। एक गाँधीवादी शान्तिवादी को इन मुद्दों पर भी पुरजोर आवाज़ उठानी चाहिए।

यह स्पष्ट कर दें कि इन सभी मुद्दों पर जनान्दोलन संगठित करने से एक बेहतर समाज का विकल्प सामने नहीं आ जायेगा। पर इन अपेक्षतया अधिक बुनियादी मुद्दों पर, “सिविल सोसाइटी” के भद्रजनों की घेरेबन्दी से बाहर आकर कोई भी व्यक्ति (गाँधी अपनी तमाम राजनीतिक-सामाजिक यूटोपिया के बावजूद, भद्रजनों की चौहद्दी से बाहर आम जनो के आन्दोलन संगठित करने में विश्वास रखने वाले एक आन्दोलनधर्मी बर्जुआ मानवतावादी थे) यदि जनता को जागृत और संगठित करेगा, तो व्यवहार उसे सुधारवादी यूटोपिया से बाहर समतामूलक समाज के निर्माण और मानवमुक्ति की ऐतिहासिक तर्कसंगत परियोजना तक पहुँचाने में सहायता करेगा, बशर्ते कि वह स्वयं को शासक वर्गीय पूर्वाग्रहों से मुक्त कर ले।



अण्णाजी, हमारी तो स्पष्ट धारण है कि डालियाँ काटने के बजाय अन्याय-शोषण-अनाचार-भ्रष्टाचार के वटवृक्ष की जड़ों पर चोट होनी चाहिए। गन्दी नालियाँ ढँकते रहने के बजाय उनके उद्गम को ही बन्द किया जाना चाहिए। यह तबतक नहीं हो सकता जब तक ऐसी जन-प्रातिनिधिक राजनीतिक प्रणाली (नीचे से ऊपर तक पिरामिडीय ढाँचे वाली) नहीं बनेगी, जिसमें केन्द्रीकृत विकेन्द्रण और विकेन्द्रित केन्द्रीकरण हो, जिसमें उत्पाद, राजकाज, समाज-विषयक फैसले लेने की ताकत व्यापक आम जनता के हाथों में हो, जिसमें नौकरशाही की भूमिका जन समूह के मातहत और अतिसीमित हो, जिसमें चुनावों में पैसे की भूमिका हो ही नहीं।

ऐसा राजनीतिक-प्रशासनिक ढाँचा तभी बन सकता है जब सामूहिक उत्पादकों को अधिशेष का सामूहिक हस्तगतकर्ता बनकर पूँजीवादी शोषण का ही खात्मा कर दिया जाये। इसकी शुरुआत सभी देशी-विदेशी पूँजीपतियों की पूँजी और कारखानों को ज़ब्त करके, सभी विदेशी कर्जों को मंसूख करके तथा सभी पूँजीवादी फ़ार्मों का सामूहिकीकरण-राजकीयकरण करके ही की जा सकती है। केवल ऐसे ही समाज में सभी बुनियादी ज़रूरतें पूरी की जा सकती हैं, हर हाथ को काम दिया जा सकता है, सभी उत्पादक नागरिकों की सक्रिय राजनीति की प्रणाली बनायी जा सकती है और फिर सतत् सांस्कृतिक क्रान्ति चलाकर सदियों से जाति-जेण्डर-नस्ल-धर्म-राष्ट्रीयता आदि पर कायम

असमानताओं-उत्पीड़नों का उन्मूलन किया जा सकता है।

...अण्णाजी, आप तो लोकतान्त्रिक प्रकृति के व्यक्ति हैं। हम कहीं भी, खुले मंच पर, अपने दृष्टिकोण को लेकर हफ्तों तक बैठकर खुली बहस करने को तैयार हैं। यदि हमारी समझ में कुछ कमी और खोट है, तो खुले मन से हम उन्हें स्वीकारने को भी तैयार हैं।

फुटकल शंकाएँ तो हमारी और भी हैं जो बहुतेरी हैं और गम्भीर भी हैं। चाहे जिस भाषा और जिन परिस्थितियों में भी आपने गुजरात में “ग्राम विकास” के कामों के लिए नरेन्द्र मोदी की प्रशंसा की, वह “हिन्दुत्व की प्रयोगशाला” और 2002 के मुस्लिम नरसंहार के फ़ासिस्ट योजनाकार को एक नैतिक मान्यता प्रदान करता है। नरेन्द्र मोदी का पूँजी निवेश का आर्थिक प्रोजेक्ट भी उनके सामाजिक प्रोजेक्ट की ही भाँति एक फ़ासिस्ट प्रोजेक्ट है। इसके लिए हमें इटली, जर्मनी, स्पेन, पुर्तगाल के फ़ासिस्ट आर्थिक प्रयोगों का अध्ययन करना होगा। व्यापारियों, शहरी मध्यवर्ग और वित्तीय महाप्रभुओं का समर्थन हासिल करने के बाद नरेन्द्र मोदी ने ग्राम विकास योजनाओं के ज़रिए वहाँ के कुलकों-फ़ार्मरों में उनका सामाजिक आधार मज़बूत किया है। गुजरात के गाँव के दलितों, आदिवासियों, मुसलमानों की दुरवस्था पर कई ज़मीनी रिपोर्टें आ चुकी हैं। इसी तरह बिहार की नीतीश कुमार सरकार के कामों और भ्रष्टाचार-विरोधी मुहिम की भी आपने बड़ाई की। नीतीश कुमार के नेतृत्व वाली जद (एकी)-भाजपा सरकार ने रंगदारी पर नियन्त्रण करके, प्रशासनिक तन्त्र में भी कुछ झाड़पोंछ करके, बस पूँजी निवेश की कुछ अनुकूल परिस्थितियाँ बनायी हैं। आपकी इन टिप्पणियों से यह शंका पुष्ट होती है कि आप भी बस मौजूदा व्यवस्था की कुछ साफ़-सफ़ाई, झाड़पोंछ और रंगरोगन ही चाहते हैं। हमें आश्चर्य तो यह होता है कि गोधरा के बाद, गुजरात में जब मुसलमानों का सरकार-प्रायोजित बर्बर नरसंहार हो रहा था तो आपके मन में एक गाँधीवादी होने के नाते (गाँधी की नोआखली और कलकत्ता यात्रा की तर्ज़ पर) गुजरात की पदयात्रा तक का विचार भी क्यों नहीं आया। हमारे मन में सवाल उठता है कि जिस तरह देशी-विदेशी पूँजीपतियों द्वारा मज़दूरों और कच्चे माल की लूट पर, श्रम कानूनों के माखौल पर और सरकार की नवउदारवादी नीतियों पर आपका कोई स्पष्ट स्टैण्ड नहीं आता, उसी प्रकार आर.एस.एस.-भाजपा की राजनीति पर भी आपका कोई दोटूक स्टैण्ड कभी सुनने को नहीं मिला। ये अलग-अलग बातें नहीं हैं। अर्थनीति और राजनीति के आम एवं व्यापक सवालों पर स्पष्ट नज़रिया अपनाये बिना, टुकड़े-टुकड़े में

भ्रष्टाचार-मुक्ति, ग्राम स्वराज, चुनाव प्रणाली में सुधार जैसी कुछ बातें करना और कुछ ऐसे काम करना जनता को दिग्भ्रमित करता है। क्षमा करें, इस मायने में तो आप एक सुसंगत गाँधीवादी भी नहीं हैं।

जन्तर-मन्तर पर आपके मंच पर “सिविल सोसाइटी” के प्रबुद्ध भद्रजनों की उपस्थिति के साथ-साथ चाक्षुष धार्मिक प्रतीकों की जितनी भरमार थी, प्रच्छन्न धार्मिक, अन्धराष्ट्रवादी नारों का जैसा शोर था और आस-पास हवन-यज्ञ जैसे जो अनुष्ठान हो रहे थे, उनको देखकर भी किसी सेक्युलर नागरिक या किसी धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय के नागरिक के दिलो-दिमाग में सवाल उठना और अलगाव महसूस करना स्वाभाविक है।

बहरहाल, इस किस्म के सवाल तो कई हैं। कोई भी सुधारवादी यूटोपिया जब अतिशय परम्परावादी और अतीतोन्मुख होता है तो धार्मिक रूढ़िवादियों, कट्टरपन्थियों से उसका सहज नैकट्य बनने लगता है और कालान्तर में उस यूटोपिया का प्रतिक्रियावादी पहलू तेज़ी से प्रबल होने लगता है।

फुटकल शंकाएँ और सवाल तो और भी कई हैं। पर इस पत्र में हमने अपने मूल प्रश्नों, मूल आपत्तियों और मूल विचारों को संक्षेप में रख दिया है। पत्र लम्बा हो गया है, इसके लिए क्षमा करेंगे। कृपया इसे पढ़ने और उत्तर देने का समय अवश्य निकालियेगा। यदि अलग से या किसी खुले मंच पर संवाद या बहस के लिए आप हमें बुलायें या हमारे आमन्त्रण पर इसके लिए समय निकालें तो हमें हार्दिक प्रसन्नता होगी।

— सादर, साभिवादन,

दिल्ली, पंजाब और उत्तर प्रदेश के कुछ मज़दूर कार्यकर्ता

सम्पर्क : मार्फत ‘मज़दूर बिगुल’

69 ए-1, बाबा का पुरवा

पेपर मिल रोड, निशातगंज

लखनऊ-226006

(मज़दूर बिगुल, अप्रैल 2011)

अण्णा हज़ारे का आन्दोलन झूठी उम्मीद जगाता है

लूट-अन्याय-भ्रष्टाचार के वृक्ष की फुनगियाँ कतरना
“दूसरी आज़ादी” की लड़ाई नहीं

पिछली 17 अगस्त से शुरू हुआ अण्णा हज़ारे का अनशन 28 अगस्त को समाप्त हो गया। 27 अगस्त को संसद ने सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित करके उनकी 3 माँगों को लोकपाल विधेयक पर विचार कर रही संसद की स्थायी समिति के पास भेज दिया। संसद में सभी दलों के सांसदों ने अण्णा हज़ारे के आन्दोलन की सराहना की और रामलीला मैदान के मंच पर “टीम अण्णा” के प्रवक्ताओं ने संसद और सांसदों को बार-बार धन्यवाद दिया। अण्णा का गाँव रालेगण सिद्धि मीडिया का नया ठिकाना बन गया है। अण्णा हज़ारे भारतीय जनता, खासकर मध्यवर्गीय जनता के बीच एक नयी हस्ती बनकर उभरे हैं। टीवी चैनलों पर बहसों का सिलसिला जारी है कि किस तरह फ़िल्मी या खेलों की दुनिया के सितारों के बजाय एक बूढ़ा सन्त टाइप आदमी देश के युवाओं का नया “आइकॉन” बनकर उभरा है।

पब्लिक का मूड देखकर अण्णा हज़ारे ने भी अपने माँगपत्रक को थोड़ा विस्तारित कर दिया है। अब वे चुनाव सुधार की माँगों पर भी आन्दोलन की बात करने लगे हैं। वैसे जन लोकपाल की अपनी माँगों को भी उन्होंने आन्दोलन के दौरान ही विस्तारित कर दिया था। राज्यों में लोकायुक्त की नियुक्ति, निचले स्तरों पर भ्रष्टाचार को लोकपाल के दायरे में लाने और सिटीज़न्स चार्टर की माँगों पर जोर बढ़ा दिया था।

कहने की ज़रूरत नहीं कि निचले स्तर का भ्रष्टाचार जनता की रोज़मर्रा की समस्या है। गाँवों में मनरेगा की मज़दूरी से लेकर लेखपालों, बीडीओ के दफ़्तर आदि में फैला भ्रष्टाचार हो, या शहरों में हर सरकारी दफ़्तर में चलने वाली घूसखोरी हो, आम ग़रीब आबादी ही उससे सबसे ज़्यादा प्रभावित होती है। राशन कार्ड, मतदाता पहचानपत्र, अस्पताल से लेकर पुलिस थाने तक हर

काम के लिए अपनी गाढ़ी कमाई से जो रक़म चुकानी पड़ती है वह उस पर बहुत भारी पड़ती है। श्रम विभाग से लेकर ईएसआई के दफ़्तर तक में फ़ैले भ्रष्टाचार से सभी मजदूर वाक़िफ़ होते हैं। आम ग़रीब और निम्न मध्यवर्गीय आबादी को वाक़ई यह महसूस होता है कि भ्रष्टाचार एक बहुत बड़ी समस्या है जिसके चलते ही उसे अपने अधिकार नहीं मिल पाते हैं। बहुत से मजदूरों को यह भ्रम है कि अगर श्रम विभाग के दफ़्तरों में, डीएलसी और लेबर इंस्पेक्टरों की घूसख़ोरी बन्द हो जाये तो श्रम क़ानून लागू हो जायेंगे और उन्हें न्यूनतम मजदूरी से लेकर तमाम अन्य अधिकार और सुविधाएँ मिलने लगेंगी। आम नागरिकों को लगता है कि सरकारी कर्मचारियों के भ्रष्टाचार पर लगाम लगते ही जमाख़ोरी-कालाबाज़ारी रुक जायेगी और महँगाई क़ाबू में आ जायेगी। यह सच है कि आम आबादी का जहाँ भी सरकारी दफ़्तरों से, नौकरशाही से पाला पड़ता है वहाँ भ्रष्टाचार से उसका साबका होता है। निचले स्तर पर जनता जब अपनी बुनियादी माँगों के लिए लड़ती है तो उसके साथ भ्रष्टाचार का सवाल नत्थी होता ही है। फ़ैक्टरी मजदूरों के आन्दोलन में श्रम विभाग के भ्रष्टाचार या मनरेगा के मसले पर आन्दोलन में ग्राम प्रधान और बीडीओ दफ़्तर के भ्रष्टाचार या पुलिस में नीचे से ऊपर तक फ़ैले भ्रष्टाचार का मुद्दा जुड़ ही जाता है। इस रूप में भ्रष्टाचार का सवाल जनवादी अधिकार का एक सवाल बनता है। लेकिन पूँजीवादी जनवाद के दायरे में जनता के जनवादी अधिकारों की लड़ाई का यह एक बहुत छोटा हिस्सा ही होता है। आगे हम इस बात पर भी विस्तार से चर्चा करेंगे कि क्या जनता यह लड़ाई लड़ते हुए भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद हासिल कर सकती है और यदि भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद बन भी जाये तो क्या इससे जनता की समस्याओं का समाधान हो जायेगा?

अभी अण्णा हज़ारे के आन्दोलन पर लौटते हैं। मीडिया ने अपना पूरा ज़ोर लगाकर जनता की पहलक़दमी और भागीदारी को जितना उभारा, उतनी जन पहलक़दमी तो वास्तव में नहीं थी, लेकिन यह सच है कि मध्यवर्ग की एक अच्छी-खासी आबादी को इसने आकर्षित किया और एक हद तक वह सड़कों पर भी निकली। जनता की भागीदारी चाहे जितनी भी हुई, मगर असल सवाल तो यह है कि “टीम अण्णा” उसे ले कहाँ जाना चाहती है, उसके पास समाधान क्या है? लोकपाल विधेयक के कुल नौ मसौदे संसद की स्थायी समिति के पास हैं। इसमें सरकारी विधेयक, टीम अण्णा का जन लोकपाल, अरुणा राय का मसौदा, लोकसत्ता पार्टी के जयप्रकाश नारायण का मसौदा, टी.

एन. शेषन का मसौदा आदि शामिल हैं। कई सौ और सुझाव भी उसे मिल चुके हैं। थोड़े-बहुत फेरबदल के साथ इन सभी में एक बात सामान्य है — ये सभी भ्रष्टाचार दूर करने के लिए किसी न किसी तरह का प्रशासनिक ढाँचा खड़ा करने की ही बात करते हैं।

हमारा स्पष्ट मानना है कि किसी भी तरह की नौकरशाही संरचना, चाहे वह जितनी भी “स्वायत्त या स्वतन्त्र” हो, पूँजीवादी व्यवस्था में ईमानदारी और भ्रष्टाचार-मुक्ति की गारण्टी नहीं दे सकती। कहने को तो उच्चतम न्यायालय बहुत स्वायत्त है मगर उसमें भी भ्रष्टाचार है। चुनाव आयोग एक स्वायत्त संवैधानिक संस्था है मगर उसी के द्वारा कराये जाने वाले चुनावों में सारे भ्रष्ट और अपराधी जीतकर संसद में पहुँचते हैं। अण्णा हज़ारे का लोकपाल भी कोई स्वर्गलोक से अवतरित व्यक्ति नहीं होगा और न ही उसके अफ़सर तथा कर्मचारी देवदूत या फ़रिश्ते होंगे। वे भी इसी समाज से भर्ती किये जायेंगे। इस बात की कोई भी गारण्टी नहीं हो सकती कि वे भी भ्रष्टाचार न करने लेंगे। टीम अण्णा के विधेयक के अनुसार बनने वाले लोकपाल कार्यालय का स्वरूप एक भारी-भरकम नौकरशाहाना ढाँचे का होगा, जिसमें हज़ारों कर्मचारी और सैकड़ों अफ़सर होंगे। इसके पास जाँच करने और कई मामलों में सज़ा देने का भी अधिकार होगा। यह एक भीषण निरंकुश किस्म का ढाँचा होगा। अकसर कुछ पढ़े-लिखे मगर ग़ैर-जनवादी प्रवृत्ति के लोग कहा करते हैं कि भारत जैसे देश में एक प्रबुद्ध निरंकुश सत्ता की ज़रूरत है जो डण्डे मार-मारकर सब ठीक कर देगी। (ज़ाहिर है कि ऐसे लोग इस खुशफ़हमी के शिकार होते हैं कि जब यह डण्डा चलेगा, तो उनका सिर बच जायेगा!) वैसे यह निरंकुशता तो अण्णा हज़ारे की प्रवृत्ति का भी हिस्सा है। अण्णा खुद को गाँधीवादी कहते हैं लेकिन उनकी उक्तियाँ क़तई गाँधीवादी नहीं हैं। रिश्वत लेते हुए पकड़े जाने वाले लोगों को वे चौराहे पर फाँसी देने की बात करते हैं और अपनी आलोचना होने पर भड़क उठते हैं।

बहरहाल, मूल बात यह है कि जन लोकपाल का कोई भी मसौदा हो, एक लोकपाल हो या तीन हों, हर राज्य में लोकायुक्त हो या न्यायिक उत्तरदायित्व आयोग की बात हो — अन्ततः ये सभी थोड़े हेर-फेर के साथ एक प्रशासकीय तन्त्र खड़ा करके भ्रष्टाचार ख़त्म करने की बात करते हैं। मगर हम फिर दोहरायेंगे कि किसी भी तरह का नौकरशाही तन्त्र जन-हितों की चौकसी नहीं कर सकता। एकमात्र विकल्प यह है कि जनता की सामूहिक चौकसी की विभिन्न संस्थाएँ और निकाय विकसित किये जायें जो सरकार द्वारा गठन करने से नहीं बल्कि

जनान्दोलनों के गर्भ से पैदा होते हैं। कुछ लोग दलील दे रहे हैं कि अण्णा के आन्दोलन ने भी जन-चौकसी की ऐसी ही भावना पैदा की है। सच तो यह है कि इस मुहिम का जिस हद तक भी जनान्दोलन का चरित्र था, उसे अन्ततः एक नया नौकरशाहाना ढाँचा प्राप्त करने तक सिमटा दिया गया। होना तो यह चाहिए कि जनान्दोलनों के गर्भ से ऐसी संस्थाएँ उभरकर सामने आयें जो नौकरशाही पर लगातार चौकसी रखें। समाज के हर स्तर पर जनता की चुनी हुई कमेटियों की व्यवस्था हो जो सरकार और प्रशासन के कामों पर चौकसी और निगरानी का काम करें। इन कमेटियों में कुछ “गणमान्य” और “प्रबुद्ध” लोगों के बजाय जनता के विभिन्न वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। जैसे मजदूर माँगपत्रक-2011 में माँग की गयी है कि श्रम एवं उद्योग से सम्बन्धित सभी विभागों में नौकरशाही और लालफीताशाही पर लगाम लगाने के लिए ऊपर से नीचे तक हर स्तर पर ऐसी अधिकारसम्पन्न नागरिक समितियाँ गठित की जायें जिनमें मजदूरों के प्रतिनिधि, नियोक्ताओं के प्रतिनिधि, श्रम कानूनों के विशेषज्ञ, मजदूर संगठनों और जनवादी अधिकार आन्दोलन के प्रतिनिधि शामिल हों। अगर ‘टीम अण्णा’ के लोग सच्चे अर्थों में जनता की लड़ाई लड़ना चाहते हैं तो उन्हें ऐसे निकायों और संस्थाओं की बात उठानी, चाहिए जिन पर किसी भी प्रकार से नौकरशाहाना तन्त्र का अंकुश न हो।

पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर भ्रष्टाचार ख़त्म हो ही नहीं सकता

हो सकता है कि अण्णा हज़ारे के आन्दोलन के कारण लोकपाल क़ानून बन जाये और कुछ हद तक जनता को रोज़मर्रा के जीवन में भ्रष्टाचार से थोड़ी राहत भी मिल लाये। लेकिन इसे “दूसरी आज़ादी की लड़ाई” या “एक नयी क्रान्ति की शुरुआत” आदि-आदि कहना एक छोटी-सी बात का अतिशय महिमामण्डन करना है। पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर भ्रष्टाचार ख़त्म हो ही नहीं सकता। इसकी मात्रा कम या ज़्यादा हो सकती है। भ्रष्टाचार- मुक्त पूँजीवाद एक आदर्शवादी कल्पना है जो मध्यवर्ग के लोगों को बहुत लुभाती है, मगर कभी भी अमल में नहीं आ सकती। यदि मान लिया जाये कि कोई सदाचारी क़िस्म का पूँजीवाद अस्तित्व में आ जायेगा, तो वह भी आम मेहनतकश जनता के लिए अत्याचारी, शोषक और भ्रष्टाचारी ही होगा। पूँजीवाद का अस्तित्व ही बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी की श्रमशक्ति की लूट पर टिका होता है। अगर

पूँजीपति एकदम ईमानदारी से ठेके आदि लें और सरकार द्वारा तय मजदूरी का भुगतान करें तब भी मजदूर की मेहनत जितना उत्पादन करती है उसका एक छोटा-सा ही हिस्सा मजदूर को मिलता है। कच्चे माल, मशीनरी-मेण्टेनेंस आदि का खर्च निकालने के बाद भी भारी रकम मुनाफ़े के तौर पर पूँजीपति की जेब में चली जाती है। मजदूर जो पैदा करता है उस पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं होता। उसे उतना ही मिलता है जिससे वह ज़िन्दा रह सके, अपनी न्यूनतम ज़रूरतें पूरी करके काम करता रह सके। पूँजीवादी समाज में लगातार होड़ चलती रहती है। होड़ पूँजीवादी समाज का मूलमन्त्र है। मुनाफ़ा बढ़ाने की इसी होड़ में पूँजीपति मजदूरों से ज़्यादा से ज़्यादा काम कराने की तरकीबें निकाले हुए मजदूरों द्वारा हासिल क़ानूनी हक़ों को भी हड़प जाते हैं। न्यूनतम मजदूरी भी नहीं देते, जबरन ओवरटाइम कराते हैं, बच्चों से आधी मजदूरी पर काम कराते हैं, सुरक्षा, स्वास्थ्य, ईएसआई आदि मदों के खर्चों को मार लेते हैं। बिजली, टैक्स आदि की चोरी करते हैं, इंस्पेक्टरों की जेब गरम करते हैं और नेताओं तथा अफ़सरों को घूस खिलाते हैं। यानी जब पूँजीवादी लूट-खसोट क़ानूनी दायरे में होती है तब भी वह आम मेहनतकशों के हक़ों को मारती है और फिर यह होड़ क़ानून की सीमा को भी लाँघ जाती है और रिश्वतखोरी-कमीशनखोरी-जमाखोरी के रूप में काले धन का अम्बार पैदा करने लगती है। ऐसे में भ्रष्ट नेताओं-अफ़सरों और दलालों का बहुत बड़ा बिचौलिया तबका भी मलाई चाटने लगता है।

इसे और अच्छी तरह समझ लें। मुनाफ़े की रफ़्तार बढ़ाने के लिए पूँजीपति बेहतर मशीनें और नयी तकनीकें लाता है, कम मजदूरों से ज़्यादा उत्पादन कराता है और बाकी मजदूरों को निकाल देता है। बेरोज़गारी बढ़ने से मजदूरों की मोलतोल की ताक़त घट जाती है और वे पहले से भी कम मजदूरी पर काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह सरासर ब्लैकमेलिंग एकदम क़ानूनी तरीक़े से होती है। सारे पूँजीपति अपना कारोबार बढ़ाने के लिए बैंकों में जमा जनता की बचत का पैसा उधार लेते हैं, एक से दस बनाते हैं और उसका एक बहुत छोटा-सा हिस्सा ब्याज के रूप में वापस करते हैं। यह धोखाधड़ी भी एकदम क़ानूनी तरीक़े से होती है। फिर पूँजीपति शेर बाज़ार से पूँजी बटोरने उतरते हैं। पहले शेरों का खेल क़ानूनी तरीक़े से चलता है लेकिन होड़ का वही तर्क जल्दी ही इसे नियन्त्रण से बाहर कर देता है और बहुत बड़े पैमाने पर ग़ैरक़ानूनी सट्टेबाज़ी शुरू हो जाती है। पूँजी बढ़ाने की यही होड़ हवाला कारोबार, अवैध कारख़ानों और तमाम तरह के ग़ैरक़ानूनी कारोबारों को जन्म देती है और फिर अपराध को भी एक संगठित

कारोबार बना देती है।

संक्षेप में कहें, तो पूँजीवाद में अगर सबकुछ क़ानूनी तरीक़े से हो तब भी वह एक भ्रष्टाचार और अनाचार है। जिस समाज व्यवस्था में अमीर-ग़रीब की खाई लगातार बढ़ती रहती है और समस्त सम्पदा पैदा करने वाली बहुसंख्यक आबादी की न्यूनतम ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो पातीं, वह अपनेआप में एक भ्रष्टाचार है।

अगर मान लिया जाये कि विदेशों में जमा सारा काला धन देश में आ जाये, और देश के भीतर उससे कई गुना अधिक जो काला धन जमा है, वह भी अगर सफ़ेद हो जाये तो क्या आम मेहनतकश जनता की हालत बेहतर हो जायेगी? इस सारे धन का निवेश “विकास” के कामों में होगा जिनकी प्राथमिकताएँ समाज के ताक़तवर तबक़ों के हिसाब से तय की जायेंगी। देश में आज भी पूँजी की कोई कमी नहीं है। सवाल इस बात का है कि उसे कहाँ लगाया जाये और कहाँ नहीं। गाँव-गाँव में और शहरी ग़रीबों के इलाक़ों में स्कूल, डिस्पेंसरी, अस्पताल खोलना, लाखों टन अनाज को सड़ने से बचाने के लिए गोदाम बनवाना, ग़रीबों के इलाक़ों में कीचड़ से बजबजाती सड़कों की मरम्मत कराना ज़्यादा ज़रूरी है या पूँजीपतियों की सुविधा के लिए बड़े-बड़े बन्दरगाह, एक्सप्रेस हाइवे, अत्याधुनिक हवाईअड्डे, होटल और एस.ई.ज़ेड. बनवाना – यह इस बात से तय होता है कि सत्ता पर किन वर्गों का वर्चस्व है। अगर कुछ देर के लिए मान लिया जाये कि सारा काला धन जन-कल्याण और सार्वजनिक निर्माण के कामों में ही लगा दिया जायेगा, तो वह सारा काम भी अफ़सरशाहों और देशी-विदेशी कम्पनियों के माफ़त ही होगा। यह सारा काला धन फिर पूँजी बनकर मज़दूरों को और निचोड़ने के काम आयेगा, ठेकों में कमीशनखोरी होगी, कामों में घपला होगा। थोड़ा-बहुत पूँजीवादी विकास हो भी जायेगा पर शोषण और असमानता को बढ़ाने की प्रक्रिया पहले की तरह जारी रहेगी। कमीशनखोरी-रिश्वतखोरी की नीचे से लेकर ऊपर तक बनी शृंखला चलती रहेगी और कालेधन का अम्बार फिर इकट्ठा होने लगेगा।

भारत सिंगापुर या स्वीडन नहीं बन सकता!

भ्रष्टाचार-विरोध की बात करने वाले लोग अकसर दुनिया के कई देशों का उदाहरण देते हैं जहाँ भ्रष्टाचार बहुत कम है और ओम्बुड्समैन जैसी संस्थाएँ मौजूद हैं। “टीम अण्णा” के कई प्रवक्ता और उनके मंच से बोलने वाले अरिन्दम चौधरी जैसे वक्ता भी स्वीडन, हालैण्ड, सिंगापुर, हांगकांग आदि का

नाम गिनाते रहते हैं जहाँ भ्रष्टाचार बहुत कम है और इसके खिलाफ़ बड़े सख़्त क़ानून लागू हैं। मगर इन देशों की असलियत क्या है? ये देश सारी दुनिया में लूटमार करने वाली कम्पनियों और परजीवी पूँजी का स्वर्ग हैं। स्वीडन और हालैण्ड जैसे देशों की हथियार कम्पनियाँ और दवा कम्पनियाँ पूरी दुनिया में लाखों लोगों को मौत और ग़रीबी में धकेलकर खरबों का मुनाफ़ा बटोरती हैं जिसका एक हिस्सा वहाँ के नागरिकों को बेहतर जीवनस्तर के रूप में मिल जाता है। सिंगापुर-हांगकांग जैसी जगहें खुद ही तमाम क़िस्म के काले धन्धों और दुनियाभर से सूदख़ोरी के ज़रिये खरबों बटोरने वाली वित्तीय कम्पनियों का गढ़ हैं। इन छोटे-छोटे देशों में फ़ासिस्ट क़िस्म के सख़्त क़ानूनों के ज़रिये रोज़मर्रा के जीवन में भ्रष्टाचार कम किया जा सकता है मगर उन्हें “मॉडल” के रूप में पेश करना भी बताता है कि ऐसे लोग किस क़िस्म का समाज बनाना चाहते हैं। इन देशों को अगर पूरी दुनिया से काटकर देखें तो लगेगा कि वहाँ कितना सदाचारी पूँजीवाद है। लेकिन इनके सदाचार का लबादा पूरी दुनिया की जनता के खून से लथपथ है। अमेरिका में तो ख़ैर भ्रष्टाचार बहुत खुले रूप में मौजूद है जिसे हॉलीवुड की फ़िल्मों तक में देखा जा सकता है, लेकिन यूरोप के कई मुल्कों में वाकई भ्रष्टाचार काफ़ी कम है। पर ये वे देश हैं जो भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों की प्राकृतिक सम्पदा और मेहनत को डकैतों की तरह लूटकर उसके एक हिस्से से अपने देश में लोगों को कुछ सुविधाएँ दे देते हैं। लेकिन इन सभी देशों में भी अमीर-ग़रीब की खाई मौजूद है और बढ़ती जा रही है। ब्रिटेन में यूँ तो भ्रष्टाचार बहुत कम है, लेकिन उसकी राजधानी सहित कई शहरों में पिछले दिनों दंगे क्यों भड़क उठे थे?

कुछ लोग कहेंगे कि चलिये, अण्णा के आन्दोलन से अगर इतना भी हो जाये तो बहुत है। ऐसे लोग यह नहीं समझते कि उन देशों में जो हो गया वह यहाँ सम्भव नहीं है। इसे इतिहास से काटकर नहीं देखा जा सकता। शताब्दियों से ग़रीब और पिछड़े मुल्कों की लूट की बदौलत उन देशों में जो समृद्धि आयी है, उसके चलते वहाँ मौजूद भ्रष्टाचार से आम नागरिकों का रोज़-रोज़ पाला नहीं पड़ता। वैसे, इसका एक कारण यह भी है कि इन देशों में हुई जनवादी क्रान्तियों के चलते वहाँ के सामाजिक ताने-बाने में जो जनवादी मूल्य और चेतना मौजूद हैं, तथा शिक्षा और जागरूकता का जो स्तर है, वह भी शासक वर्गों को मजबूर कर देता है कि वे अन्धेरगदी वाला भ्रष्टाचार न करें। लेकिन यह तो गौण कारण है। मुख्य कारण वही है जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है।

भ्रष्टाचारियों के मैनेजर, रक्षक और चाकर भी भ्रष्ट क्यों न होंगे?

पूँजीवाद अनेक स्तरों पर तरह-तरह के अन्तरविरोधों से ग्रस्त व्यवस्था है। पूँजीपति वर्ग की चाहत होती है कि उसकी 'मैनेजिंग कमेटी', यानी सरकार भ्रष्टाचार से मुक्त हो। संसद उनके हितों के अनुरूप नीतियाँ बनाये, अफसरशाही उन्हें चुस्ती से लागू करे, पुलिस और सशस्त्र बल क़ानून-व्यवस्था बनाये रखने के लिए मुस्तैद रहें। उत्पादन, बाज़ार, मुनाफ़े का खेल बिना किसी अड़चन-रुकावट के चलता रहे। लेकिन पूँजीवाद अपनेआप में कोई एकाशमी व्यवस्था नहीं है। उसमें पूँजीपतियों के अलग-अलग धड़ों, कार्टेलों, घरानों के बीच टकराव होते रहते हैं। आपसी प्रतिस्पर्द्धा में ठेका लेने के लिए कमीशन खिलाने (राडिया टेप काण्ड, 2जी स्पेक्ट्रम घोटाला) और तरह-तरह के काले धन्धे करने से वे बाज़ नहीं आ सकते। पूँजीवादी जनवाद के भीतर अलग-अलग पार्टियाँ भी पूँजीपतियों के अलग-अलग धड़ों और हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं। बुर्जुआ चुनावी पार्टियों के आपसी अन्तरविरोधों में भी पूँजीवादी व्यवस्था के विभिन्न अन्तरविरोध प्रकट होते रहते हैं। इस व्यवस्था को चलाने वाली नेताशाही और नौकरशाही पूँजीपति वर्ग की सेविका होती है लेकिन उसकी घरेलू गुलाम नहीं होती। वे जानते हैं कि उनके बिना पूँजीपति वर्ग का काम नहीं चल सकता।

इसलिए, उनकी भी एक ताक़त बन जाती है। पूँजीपति वर्ग यदि चाहे भी कि नेताशाही-नौकरशाही को केवल क़ानूनी वेतन-भत्तों पर काम करने के लिए राज़ी कर ले तो नहीं कर सकता। फिर भी विदेशी पूँजी के थिंकटैंक और देशी पूँजी के थिंकटैंक लगातार भ्रष्टाचार और एकदम अन्धेरगदीं वाली लूट पर अंकुश लगाने के लिए उपाय सुझाते रहते हैं। दरअसल उनकी चिन्ता इस बात को लेकर होती है कि इस व्यवस्था की उम्र लम्बी कैसे की जाये। तरह-तरह के च्यवनप्राश और विटामिन खिलाकर वे उसकी रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाने का जतन करते रहते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्दरूनी अन्तरविरोधों को उग्र होने से बचाने की जुगत भिड़ते रहते हैं। अनायास नहीं है कि विश्व बैंक ने भी इसी समय विभिन्न देशों में सरकारी कामकाज में भ्रष्टाचार कम करने और पारदर्शिता बढ़ाने के लिए नयी रणनीति पर ज़ोर देना शुरू कर दिया है। 'ट्रांसपेरेंसी इण्टरनेशनल' नामक संस्था करोड़ों डॉलर के खर्च से हर साल दुनियाभर में भ्रष्टाचार पर रिपोर्टें निकालकर सरकारों को आगाह करती रहती है। कई बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, जिनमें जापानी कम्पनियाँ प्रमुख हैं, भारत जैसे देशों

में निवेश करने से पहले दो ही शर्तें लगाती हैं – पहली, यह कि श्रम क़ानूनों को “लचीला” बनाया जाये और दूसरी यह कि सरकार अपने यहाँ कमीशनखोरी और भ्रष्टाचार कम करे।

पूँजीवादी व्यवस्था का दूरगामी हित सोचने वाले चाहते हैं कि व्यवस्था में भ्रष्टाचार और लूट-खसोट इतना न बढ़ जाये कि जनता इस व्यवस्था से ही निजात पाने के बारे में सोचने लगे। इसलिए कभी सुप्रीम कोर्ट सलवा जुडुम बन्द करने का आदेश देते हुए सरकार की आर्थिक नीतियों को “देश के साथ बलात्कार” की संज्ञा देता है तो कभी कोई सरकारी आयोग मज़दूरों की बढ़हाली और ग़रीबी की ओर ध्यान दिलाता है। देश के सबसे बड़े पूँजीपति घरानों में गिने जाने वाले किलॉस्कर और बजाज भी अण्णा के आन्दोलन का समर्थन करते हैं और देश के दूसरे सबसे बड़े प्राइवेट बैंक एचडीएफ़सी बैंक के अध्यक्ष दीपक पारिख भी इसके पक्ष में बयान देते हैं। सभी पूँजीपतियों के कारख़ानों में श्रम क़ानूनों का खुला उल्लंघन होता है, हर साल वे करोड़ों रुपये की टैक्स चोरी करते हैं। क़ानूनी दौंवपेंचों के सहारे तमाम बड़े पूँजीपतियों ने राष्ट्रीय बैंकों के हज़ारों करोड़ रुपये मार लिये हैं, मगर ये सब भ्रष्टाचार ख़त्म करना चाहते हैं। तमाम तरह की बीमा और बचत योजनाओं के सहारे जनता का पैसा मारने के लिए कुख्यात और क़ानूनों को टेंगा दिखाकर ठेका कर्मचारियों और एजेण्टों का शोषण करने वाले निजी बैंक और फ़ाइनेंस कम्पनियाँ भी भ्रष्टाचार-विरोध के समर्थन में हैं। और नीचे आते-आते तो समर्थन का यह तमाशा एक हास्यास्पद प्रहसन में तब्दील हो जाता है। सभी जानते हैं कि फ़िल्मी सितारों की कमाई का 90 प्रतिशत तक काला धन होता है। पर वे भी बड़ी शान से अण्णा के पक्ष में भाषण दे रहे हैं और “ट्वीट” कर रहे हैं। ऊपर से नीचे तक काले धन के सभी छोटे-बड़े सरदार इस आन्दोलन के पक्ष में नज़र आ रहे हैं। बिल्कुल निचले स्तर पर प्रॉपर्टी डीलर, व्यापारी और गली के डण्डीमार दुकानदार तक वे तमाम लोग अण्णा की टोपी पहने नज़र आ रहे थे जो सुबह से रात तक भ्रष्टाचार ही करते रहते हैं।

लोकतन्त्र के नये पहरुओं का चाल-चेहरा-चरित्र क्या है

अब ज़रा ‘टीम अण्णा’ के सदस्यों पर भी एक नज़र मार ली जाये। अण्णा हज़ारे भ्रष्टाचार को देश की सबसे बड़ी समस्या बताते हैं और इस आन्दोलन को आज़ादी की दूसरी लड़ाई घोषित कर देते हैं। वे और उनकी टीम के सदस्य लोकतन्त्र को लेकर काफ़ी चिन्ता प्रकट करते हैं, मगर देश के कई

इलाकों में जनता के अधिकारों को पुलिस और सेना के बूटों तले रौंदे जाने पर वे एक शब्द भी नहीं बोलते। किसानों की आत्महत्या पर, ऑपरेशन ग्रीनहण्ट पर, उत्तर-पूर्व और कश्मीर में सेना के बर्बर दमन पर, करोड़ों मजदूरों के शोषण पर वे चुप रहते हैं। मीडिया में बार-बार सवाल उठने पर अब वे चलते-चलाते किसानों और मजदूरों की समस्याओं की चर्चाभर कर देते हैं। मध्य भारत के जंगलों में अपने अस्तित्व के लिए लड़ रहे आदिवासियों के खिलाफ सेना तैनात करने की सरकारी योजना पर भी उनके कोई उद्गार प्रकट नहीं होते। मगर वे गैर-मराठियों के विरुद्ध राज ठाकरे के अभियान का समर्थन कर चुके हैं और मुसलमानों का क़त्लेआम कराने वाले नरेन्द्र मोदी के “विकास के मॉडल” की सराहना भी करते हैं। अण्णा के गाँव रालेगण सिद्धि में पिछले पच्चीस वर्ष से ग्राम पंचायत या सहकारी समिति के चुनाव नहीं हुए हैं। जाति व्यवस्था पर उनका सोचना यह है कि “हर गाँव में एक चमार, एक सुनार, एक कुम्हार आदि होना चाहिए। उन सबको अपनी-अपनी भूमिका और पेशे के अनुसार काम करना चाहिए।”

टीम अण्णा के प्रमुख सदस्य अरविन्द केजरीवाल, मनीष सिसौदिया, किरण बेदी, मयंक गाँधी आदि बड़े-बड़े एन.जी.ओ. चलाते हैं जिन्हें कोका कोला, लेहमान ब्रदर्स और फ़ोर्ड फ़ाउण्डेशन जैसी संस्थाओं से करोड़ों रुपये की फ़ण्डिंग मिलती है। इण्डिया अगेंस्ट करप्शन के अभियान को अंशदान देने वालों में कई बड़ी-बड़ी देशी कम्पनियाँ और संस्थाएँ हैं जिनमें से कुछ हज़ारों करोड़ के वित्तीय साम्राज्य चलाने वाले राजनीतिज्ञों से भी जुड़ी हुई हैं। केजरीवाल सफ़ाई देते हैं कि उन लोगों के एन.जी.ओ. का सारा हिसाब-किताब इण्डिया अगेंस्ट करप्शन की वेबसाइट पर उपलब्ध है। यहाँ मुद्दा यह है ही नहीं कि केजरीवाल या किसी अन्य ने एन.जी.ओ. का पैसा खा लिया या उससे कितनी कमाई की। ये स्वयंसेवी संस्थाएँ जहाँ से वित्तपोषण लेती हैं, ये वे पूँजीवादी घराने और कम्पनियाँ हैं जिन्होंने कई देशों में रक्तरंजित तख़्तापलट कराये हैं, चुनी हुई सरकारों को गिराकर सैनिक जुन्ताओं को सत्ता पर क़ब्ज़ा करने में मदद की है, महाभ्रष्ट तानाशाहों और सैनिक जुन्ताओं का काला धन अपने यहाँ निवेश कराया है – इनके मानवता-विरोधी अपराधों की फ़ेहरिस्त इतनी लम्बी है कि यहाँ गिनायी नहीं जा सकती। ये लोग पूरी दुनिया के देशों में एन.जी.ओ. की फ़ण्डिंग क्यों करते हैं, इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। मगर भ्रष्टाचार-विरोधी इस “जंग” के सिपहसालारों को भ्रष्टाचार के कीचड़ और करोड़ों इंसानों के खून से सनी यह फ़ण्डिंग स्वीकार करने में कोई गुरेज़ नहीं।

प्रश्न केवल अरविन्द केजरीवाल, मनीष सिसौदिया या किरण बेदी का नहीं है। ऊपर से नीचे तक एनजीओ-पन्थी इस आन्दोलन में सक्रिय हैं। टीम के दो अन्य प्रमुख सदस्यों शान्तिभूषण और प्रशान्त भूषण को ले लें। शान्तिभूषण एक-एक पेशी के लिए 25 लाख रुपये फ़ीस लेते हैं। प्रशान्तभूषण की फ़ीस भी लाखों में है। न्याय जनता का बुनियादी अधिकार है। मगर इतने महँगे वक़ील क्या जनता को न्याय दिला सकते हैं? कुछ जनहित याचिकाओं और कुछ राजनीतिक बन्दियों को ज़मानत दिलाने आदि को प्रशान्त भूषण मोरपंखी की तरह सिर पर टाँक लेते हैं, लेकिन जिन बड़े-बड़े घरानों की ये पैरवी करते हैं वे लाखों मजदूरों के निर्मम शोषण, पर्यावरण की तबाही और तमाम क़ानूनों के उल्लंघन के दोषी हैं। कहीं न कहीं उनके अपराधों में ये भी भागीदार हैं।

बुर्जुआ जनवाद के चिथड़ा लबादे पर सुधारों की पैबन्दसाज़ी

इधर अण्णा हज़ारे के चतुर सलाहकारों ने उम्मीदवारों को नापसन्द करने के अधिकार ('राइट टू रिजेक्ट'), जनप्रतिनिधियों को वापस बुलाने के अधिकार ('राइट टू रिकॉल'), सरकारी खर्चे पर चुनाव कराने जैसी माँगों की चर्चा तेज़ कर दी है। अव्वलन तो भारत के पूँजीवादी जनवाद में इनका लागू होना सम्भव ही नहीं है। ये विशुद्ध लोकलुभावन बातें हैं। और मान लें कि अगर ये लागू हो भी जायें तो इनसे जनता के हाथों में सत्ता नहीं आ जायेगी। ये महज़ कुछ सजावटी किस्म के सुधार होंगे। छोटे स्तर पर ग्राम सभाओं के चुनाव के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है, जहाँ पैसे का खेल इस तरह नहीं चलता। फिर भी अधिकांश जगहों पर कोई अमीर, मानिन्द व्यक्ति ही क्यों चुनाव जीतता है? आरक्षित सीटों पर भी प्रायः ग़ैर-दलित जातियों के प्रभुत्वशाली लोगों का कोई लग्गू-भग्गू ही जीत जाता है। स्त्रियों के लिए आरक्षित सीटों पर अधिकांश जगहों पर उनके परिवार के मर्द ही वास्तव में जीतते हैं। अगर शोषण और ग़ैर-बराबरी पर आधारित आर्थिक सम्बन्ध कायम रहेंगे तो ऊपरी ढाँचे में किसी भी प्रकार की पैबन्दसाज़ी एक मज़ाक़ बनकर ही रह जायेगी। उससे किसी वास्तविक बदलाव की उम्मीद करना भोलापन होगा।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि पूँजीवादी जनवाद के भीतर जनवादी अधिकारों के लिए लड़ते हुए ही जनता समाजवाद के लिए लड़ना सीखती है। लेकिन समाजवाद के लिए संघर्ष केवल राजनीतिक चौहद्दी में नहीं चलता। वह आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तीनों चौहद्दियों में चलाना होता है।

महज राजनीतिक क्षेत्र में कुछ सुधार कर देने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

इस व्यवस्था के भीतर होने वाले चुनाव अगर सरकारी खर्च से होने लगेंगे और बहुसंख्यक आबादी ग़रीब और वंचित रहेगी, तथा उत्पादन के साधनों की मालिक नहीं होगी तो सम्पन्न वर्गों के नुमाइन्दे ही चुनकर संसद और विधानसभाओं में पहुँचेंगे। सरकारी खर्च पर पूरा चुनावी प्रचार सम्भव नहीं होगा, और सभी उम्मीदवार अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक़ जमकर खर्च करेंगे। काले धन का पहले की तरह जमकर उपयोग होगा। पूँजीवादी व्यवस्था में निर्वाचक मण्डल (एमपी-एमएलए का चुनाव क्षेत्र) इतना बड़ा होता है कि खर्चों और अवैध तौर-तरीकों की सटीक पड़ताल की ही नहीं जा सकती। आज भी तो उम्मीदवारों के खर्च की अधिकतम सीमा तय है और चुनाव आयोग इसकी जाँच करता ही रहता है। लेकिन हर पूँजीवादी पार्टी के उम्मीदवार करोड़ों रुपये खर्च करते हैं। सारे मतदाताओं तक पहुँचने के लिए उनमें ज़बरदस्त होड़ मची रहती है। इसके लिए कारपोरेट घरानों, जमाख़ोर व्यापारियों, अपराधियों आदि से छिपे तौर पर करोड़ों-करोड़ का चन्दा लिया जाता है, और बहुत-से सम्पन्न उम्मीदवार खुद अपनी जेब से करोड़ों खर्च करते हैं। पैसे लगाने वालों के लिए यह भी एक निवेश होता है, और चुनाव जीतते ही एक के बदले दस बनाने के लिए वे जमकर भ्रष्टाचार करते हैं। 1966-67 में इन्दिरा गाँधी ने कारपोरेट घरानों से राजनीतिक दलों के पैसे लेने पर रोक लगा दी, लेकिन इससे रंचमात्र भी फ़र्क नहीं पड़ा। पूँजीवादी पार्टियाँ कारपोरेट घरानों से चन्दा लिये बिना चुनाव लड़ ही नहीं सकतीं।

इसी तरह जनप्रतिनिधि को वापस बुलाने का अधिकार इस व्यवस्था में लागू ही नहीं हो सकता। जनता का बहुमत किसी सांसद या विधायक को वापस बुलाना चाहता है – यह तय करने के लिए भी तो फिर से मतदान ही कराना पड़ेगा जिसमें वोट ख़रीदने के लिए फिर उसी किस्म का भ्रष्टाचार होने लगेगा जो चुनाव में होता है।

पूँजीवादी जनवाद के दायरे के भीतर जनता अगर जागृत, संगठित और गोलबन्द होकर अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ती है और संघर्षों के दौरान उसकी सामूहिक चेतना विकसित होती है तो सामूहिक चौकसी के द्वारा एक हद तक रोज़मर्रा के भ्रष्टाचार को सीमित किया जा सकता है। मगर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सट्टेबाज़ी, वायदा कारोबार, जमाख़ोरी, रिश्वतख़ोरी और काले धन का जो विराट समानान्तर तन्त्र पैदा होता है उसे ख़त्म नहीं किया जा सकता। इस समस्या का आमूलगामी समाधान पूँजीवाद की समाप्ति के साथ ही हो सकता है। जो मेहनतकश जनसमुदाय समाज की समस्त सम्पदा का उत्पादन

करता है जब तक वह उत्पादन के अधिशेष का हस्तगतकर्ता भी न हो जाये, जब तक उत्पादन, राजकाज और समाज पर उत्पादन करने वाले लोग इस तरह काबिज न हो जायें कि फ़ैसले की ताक़त वास्तव में उनके हाथों में हो, तब तक भ्रष्टाचार की समस्या का समाधान नहीं हो सकता। वास्तविक लोकतन्त्र वही हो सकता है कि जिसमें बुनियादी स्तर की आर्थिक इकाइयों में आम जनता के चुने हुए प्रतिनिधि निर्णय और प्रबन्धन के कामों को सीधे अपने हाथों में ले लें। उत्पादन कर्म में भागीदारी के साथ-साथ उत्पादन और वितरण की पूरी प्रक्रिया का संचालन भी वही करें। इसी बुनियाद से क्रमशः ऊपर उठते हुए प्रशासनिक और राजनीतिक संरचना के लिए भी प्रतिनिधि चुने जायें। यह एक पिरामिड जैसा ढाँचा होगा। ऐसे ढाँचे में प्रबन्धन या तकनीक के विशेषज्ञ स्वतन्त्र नौकरशाह या टेक्नोक्रेट के रूप में नहीं काम करेंगे, बल्कि हर स्तर पर चुने हुए जनप्रतिनिधियों की कमेटियों में उनका स्थान होगा और वे जनता की चौकसी और निर्देशन में काम करेंगे। यह एक ऐसी व्यवस्था होगी जिसमें नीतियाँ बनाने वाले (विधायिका) और उन्हें लागू करने वाले (कार्यपालिका) के बीच अन्तर नहीं होगा। ऊपर से नीचे तक इस पिरामिडीय संरचना में विकेन्द्रीकरण और केन्द्रीकरण दोनों के तत्व मौजूद होंगे। ऐसी व्यवस्था के भीतर छोटे-छोटे निर्वाचक मण्डलों में चुने हुए प्रतिनिधि भी लगातार जन-चौकसी के दायरे में होंगे। बड़े निर्वाचक मण्डलों में आम आदमी के चुने जाने का अधिकार समाप्त हो जाता है और चुनावों में पूँजी और ताक़त की भूमिका प्रधान हो जाती है। इस व्यवस्था में ऐसा नहीं होगा। एक ऐसी व्यवस्था के भीतर ही वापस बुलाने का अधिकार लागू हो सकता है।

अगर व्यावहारिक होकर सोचा जाये तो निश्चित ही ऐसी किसी व्यवस्था के भीतर भी नौकरशाहाना प्रवृत्तियाँ और भ्रष्टाचार पैदा होते रहेंगे, लेकिन इस व्यवस्था के दायरे में जनता की सतत क्रान्तिकारी चौकसी उनकी झाड़-पोंछ करती रहेगी। दूसरे, ऐसी व्यवस्था में जनता की सामूहिक चेतना लगातार विकसित होती जाती है जिसके चलते सहस्राब्दियों से चला आ रहा श्रम विभाजन (शारीरिक और मानसिक श्रम का अन्तर) क्रमशः मिटता चला जाता है और सामाजिक-आर्थिक ढाँचे के भीतर पूँजीवादी विशेषाधिकारों की ज़मीन क्रमशः कमजोर होती चली जाती है।

इस चर्चा को समेटते हुए कहा जा सकता है कि यदि कोई सामाजिक क्रान्ति आर्थिक सम्बन्धों में आमूलगामी बदलाव की बात नहीं करती, यदि मुट्ठीभर लोगों का उत्पादन के सभी साधनों पर एकाधिकार बना रहता है और समाज की बहुसंख्यक आबादी महज़ उनके लिए मुनाफ़ा पैदा करने के

लिए जीती रहती है तो किसी भी तरह की ऊपरी पैबन्दसाज़ी से भ्रष्टाचार जैसी समस्या दूर नहीं हो सकती। यदि कोई आमूलगामी क्रान्ति उत्पादन के साधनों को मुट्ठीभर मुनाफ़ाख़ोरों के हाथों से छीनकर जनता के हाथों में नहीं देती, परजीवी पूँजी के तमाम गढ़ों, शेयर बाज़ारों आदि पर ताले नहीं लटका देती, भारत जैसे देशों में होने वाली कोई क्रान्ति अगर सारे विदेशी क़र्ज़ों को मंसूख़ नहीं करती, सारी विदेशी पूँजी को ज़ब्त करके जनता के हाथों में नहीं सौंप देती, नीचे से ऊपर तक सारे प्रशासकीय ढाँचे को ध्वस्त कर उसका नये सिरे से पुनर्गठन नहीं करती, तो न सिर्फ़ समाज में असमानता, अन्याय और अत्याचार बने रहेंगे बल्कि हर स्तर पर वह भ्रष्टाचार भी बना रहेगा जिसे अण्णा हज़ारे और उनकी टीम महज़ एक क़ानून बनाकर दूर करने के दावे कर रही है।

अण्णा हज़ारे जिन चीज़ों की बात कर रहे हैं वे सब अगर अमल में भी आ जायें तो भी ये सीमित जनवादी अधिकारों की कुछ माँगें बनती हैं। इन्हें दूसरी आज़ादी की लड़ाई के रूप में पेश करना हास्यास्पद है और यह जनता में विभ्रम पैदा करता है। कुल-मिलाकर, उनकी नीयत चाहे जो भी हो, उनका आन्दोलन लोगों के गुस्से और असन्तोष को बाहर निकलने का ज़रिया देकर व्यवस्था के लिए एक सेफ़्टीवॉल्व और शॉक एब्ज़ॉर्बर का काम कर रहा है।

(मज़दूर बिगुल, अगस्त-सितम्बर 2011)

स्वयं एक भ्रष्टाचार है पूँजीवाद

पिछले दो माह और विशेष रूप से नवम्बर, देशभर में अब तक के सबसे बड़े घोटालों के पर्दाफाश के महीने के रूप में जाना जायेगा। कॉमनवेल्थ खेलों में 80 हजार करोड़ रुपये का घोटाला, 2जी स्पेक्ट्रम का पौने दो लाख करोड़ रुपयों का घोटाला, आदर्श हाउसिंग सोसायटी का घोटाला और कर्नाटक में मुख्यमन्त्री येदियुरप्पा द्वारा अपने परिवार के सदस्यों को ज़मीनें देने के घोटाले (जिनकी कीमत का मूल्यांकन अभी चल ही रहा है, लेकिन दावे से कहा जा सकता है कि ये भी कई हजार करोड़ रुपये के घोटाले हैं) मीडिया में छाये हुए हैं और मध्यवर्ग के बीच चर्चा का विषय बने हुए हैं। इन घोटालों की कुल कीमत भारत के कुल बजट का करीब 50 फीसदी तक है। ये घोटाले अपने परिमाण और आकार में पहले के घोटालों से कहीं बड़े हैं। निश्चित रूप से देश तरक्की कर रहा है!

हमेशा की तरह इस बार भी इन घोटालों पर कुछ समय के लिए हल्ला मचेगा, मध्यवर्ग में थोड़ी सिहरन भरी चर्चाएँ होंगी, चुनावी पार्टियों का 'तू नंगा-तू नंगा' का बेशर्म शोर मचेगा, संसद और विधानसभा की कार्यवाहियाँ कुछ दिनों के लिए ठप्प पड़ी रहेंगी और फिर सबकुछ सामान्य रूप से चलने लगेगा। किसी को कोई सज़ा नहीं मिलेगी। आज तक किसी भी नेता को भ्रष्टाचार के लिए जेल नहीं जाना पड़ा है। वास्तव में सभी चुनावी पार्टियाँ अपने-अपने भ्रष्टाचारी नेताओं को बचाने में लगी हैं। यही कारण है कि येदियुरप्पा जैसे भ्रष्टाचारी खुलेआम राष्ट्रीय मीडिया में बयान देते हैं कि उन्होंने जो किया, वह तो हर मुख्यमन्त्री करता है! और भाजपा येदियुरप्पा की सफ़ाई से सन्तुष्ट हो जाती है। ताज्जुब भी क्यों करें, जब कैमरे के सामने भ्रष्टाचार करते पकड़े गये उसके नेता बंगारू लक्ष्मण और दिलीप सिंह जूदेव अभी भी भाजपा के सम्मानित नेता बने हुए हैं। कांग्रेस भी कोई अलग नहीं है। उसका हाल भी ऐसा ही है। जनतन्त्र का खेल जारी रखने के लिए कुछ समय हल्ला तो मचाना ही पड़ता है। लेकिन अब जनता भी जानती है कि कुछ दिन तक इस मुद्दे पर उछल-कूद मचाने के बाद सभी चुनावी नेताओं को अगले घोटाले की तैयारी में लग जाना है। मध्यवर्ग के लिए तो यह अब कोई मुद्दा भी नहीं

रह गया है। इसका कारण यह भी है कि मध्यवर्ग का एक विचारणीय हिस्सा अब स्वयं भ्रष्टाचार के लाभप्राप्तकर्ताओं में से एक बन चुका है। इसलिए भ्रष्टाचार उसके लिए वक्त काटने के लिए की जाने वाली या अपना ज्ञान बघारने के लिए की जाने वाली चर्चाओं का मुद्दा तो हो सकता है, लेकिन आमतौर पर उसे अब इस पर कोई क्रोध नहीं आता। यह मध्यवर्ग इस सत्ता के एक महत्वपूर्ण सामाजिक अवलम्ब के तौर पर उभरा है और उपभोक्ता संस्कृति, ऋण वित्तपोषित खरीदारी महोत्सव और पैसे की संस्कृति में यह सिर से पाँव तक नहाया हुआ है।

हाल ही में एक अन्तरराष्ट्रीय संस्था ग्लोबल फाइनेंशियल इण्टेग्रिटी ने पाया कि हर वर्ष अरबों डॉलर भारत से घोटाले, काले धन और कर चोरी के कारण बाहर चला जाता है और भारत की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को इसके कारण भारी नुकसान उठाना पड़ता है। यह रिपोर्ट बताती है कि भारत से गैर-क़ानूनी तरीके से अरबों डॉलर के बाहर जाने की यह प्रक्रिया 1991 के बाद खासतौर पर तेज़ हुई है। आज़ादी के बाद से अब तक गैर-क़ानूनी तरीके से विदेश पहुँचे भारतीय धन का 68 प्रतिशत 1991 के बाद गया है। मनमोहन सिंह द्वारा 1991 में लाये गये आर्थिक सुधारों, नवउदारीकरण और भूमण्डलीकरण की नीतियों के बाद से धन के गैर-क़ानूनी तरीके से बाहर जाने की वार्षिक दर 9.1 प्रतिशत से बढ़कर 16.4 प्रतिशत पहुँच गयी। यह साफ़ तौर पर दिखलाता है कि निजीकरण और उदारीकरण के बाद भ्रष्टाचार के ख़त्म हो जाने के जो दावे किये गये थे वे पूरी तरह खोखले थे। वास्तव में, पहले भ्रष्टाचार करने वाले अभिकर्ता होते थे राज्य मशीनरी में बैठे नौकरशाह। इस लाइसेंस राज-इंस्पेक्टर राज के खात्मे के बाद सरकार के नीति-निर्माण में पूँजीपति वर्ग का दखल अधिक से अधिक प्रत्यक्ष हुआ है। कारपोरेट घराने किस तरीके से सरकार के नीति-निर्माण को निर्धारित कर रहे हैं यह नीरा राडिया के फ़ोन रिकॉर्ड के सामने आने से साफ़ तौर पर ज़ाहिर हुआ है। और बेशरमी की हद यह है कि टाटा ने इस पर कोर्ट में याचिका दायर की है कि इन टेपों का ज़ाहिर होना उसके निजी क्षेत्र में अतिक्रमण है। इसका अर्थ यह हुआ कि सार्वजनिक नीति-निर्माण को प्रभावित करने की कोशिश करना उसका निजी मामला है। स्पष्ट है कि टाटा का क्या मतलब है! साफ़ है कि इस भ्रष्टाचार में पूँजीपति वर्ग अब एक प्रत्यक्ष लाभप्राप्तकर्ता बन चुका है। कॉमनवैल्थ खेलों, 2जी स्पेक्ट्रम, आदर्श हाउसिंग सोसायटी के घोटालों में साफ़ तौर पर देखा जा सकता है कि सरकारी खज़ाने की मोटी-तगड़ी रक़म नेताओं और नौकरशाहों के साथ ही कारपोरेट पूँजीपति वर्ग की ज़ेब में भी जा रही है।

यहाँ हमारा मक़सद इन घोटालों के आकार-प्रकार का वर्णन करना नहीं है। हम सभी जानते हैं कि हर वर्ष जनता की मेहनत से उपजे खरबों रुपये घोटालों के ज़रिये नेताओं, नौकरशाहों और पूँजीपतियों की जेबों में चले जाते हैं। हम यह भी जानते हैं कि मध्यवर्ग के एक बड़े हिस्से के लिए यह भ्रष्टाचार अब एक स्वीकार्य तथ्य बन चुका है और इसका एक कारण यह भी है कि यह हिस्सा स्वयं किसी न किसी रूप में इस भ्रष्टाचार से फ़ायदा पा रहा है। यहाँ हमारा मक़सद दो सच्चाइयों की ओर इशारा करना है।

पहली सच्चाई यह है कि भ्रष्टाचार पूँजीवादी व्यवस्था की नैसर्गिक उपज है। ऐसे किसी पूँजीवाद की कल्पना करना असम्भव है जो पाक-साफ़ हो। आज स्वामी रामदेव और उनका भारत स्वाभिमान संगठन निम्न मध्यवर्ग के एक बड़े हिस्से का आदर्श बन चुके हैं, क्योंकि उनका यह दावा है कि विदेशी बैंकों में भारत के भ्रष्टाचारी नेताओं आदि की जमा अरबों डॉलर की रक़म अगर भारत वापस आ जाये तो इस देश की समस्याओं का हल हो जायेगा। यह एक सन्त पूँजीवाद की कल्पना करने जैसा ही है। रामदेव इस देश की पूँजीवादी व्यवस्था पर कहीं कोई सवाल नहीं खड़ा करते। और करें भी क्यों? वह तो स्वयं एक कारपोरेट पूँजीपति बन चुके हैं जो पतंजलि योग संस्थान नामक अपने कारपोरेट घराने से अरबों रुपये पीट रहे हैं और अपने कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों का जमकर दमन कर रहे हैं। ऐसे में वे इस देश के निम्न मध्यवर्ग के नौजवानों और नागरिकों को दिग्भ्रमित करने के लिए यही मुद्दा उठा सकते हैं कि अगर भारत से भ्रष्टाचार के चलते अरबों डॉलर बाहर न जाये तो सबकुछ दुरुस्त हो जायेगा। इस शेख़चिल्ली की योजना पर सिर्फ़ हँसा जा सकता है। पहली बात तो यह कि ऐसा होने वाला नहीं है। एक ऐसी व्यवस्था जिसमें हर गतिविधि का प्रेरक मुनाफ़ा कमाना हो, वहाँ भ्रष्टाचार होगा ही। इसके अतिरिक्त, और कोई सम्भावना नहीं है।

दूसरी सच्चाई यह है कि अगर एक बार को यह मान भी लिया जाये कि कोई घोटाला-रहित पूँजीवाद सम्भव है तो भी पूँजीवादी व्यवस्था जिस रूप में मेहनतकश जनता को लूटकर अमीरज़ादों की तिजोरियाँ भरती है, वह एक भ्रष्टाचार है। यह एक ऐसा भ्रष्टाचार है जो पूँजीवादी संविधान और क़ानून-व्यवस्था द्वारा मान्यता-प्राप्त है। मुनाफ़ा कमाने और पूँजी संचय करना या दूसरे शब्दों में कहें तो निजी सम्पत्ति खड़ी करने का अधिकार पूँजीवादी व्यवस्था के तहत एक मूलभूत अधिकार होता है। निजी मुनाफ़ा कमाने की यह पूरी प्रक्रिया मज़दूरों के शोषण पर आधारित होती है। इसमें मज़दूर समस्त भौतिक सम्पदा का अपनी मेहनत के बूते उत्पादन तो करता है लेकिन उस पर

उसका कोई अधिकार या नियन्त्रण नहीं होता है। देश का 80 फीसदी अवाम खेतों-खलिहानों से लेकर कल-कारखानों तक में दिनों-रात खटकर अकूत भौतिक सम्पदा का उत्पादन करता है और उसका अधिग्रहण करते हैं कुल आबादी के एक छोटे-से हिस्से का निर्माण करने वाले पूँजीपति। यह पूँजीपति वर्ग इस उत्पादन में कहीं कोई भूमिका अदा नहीं करता। उत्पादन की प्रक्रिया से उसका कोई ताल्लुक नहीं होता। यह कूपन काटकर मुनाफ़ा कमाने वाला परजीवी, अनुत्पादक और शोषक वर्ग है। लेकिन इसके बावजूद देश के उत्पादन से लेकर राज-काज और समाज के पूरे ढाँचे पर उसका एकाधिकार होता है। अगर वह कोई हेरफेर या धाँधली न करे तो भी उसकी समूची सम्पत्ति भ्रष्टाचार और अन्याय पर टिकी है। वास्तव में इन घोटालों के ज़रिये रफ़ा-दफ़ा की जाने वाली रक़म पूरी पूँजीवादी लूट का एक बेहद छोटा-सा हिस्सा होता है। अगर हम कुल उत्पादक निवेश से इसकी तुलना करें तो हम पाते हैं कि यह उसके सामने बेहद मामूली है। इस निवेश के रूप में जो पूँजी खर्च होती है वह उसी पूँजी-संचय से आती है जो इस देश के मज़दूरों की मेहनत के बल पर संचित होता है। वास्तव में यह पूँजी और कुछ नहीं है, बल्कि मज़दूरों द्वारा किये गये श्रम का एक वस्तु रूप है (ऑब्जेक्टिफ़ायड लेबर)। लेकिन यह सारी सम्पदा खड़ी करने के बाद मज़दूरों को इसका एक बेहद छोटा हिस्सा गुज़ारे के लिए मज़दूरी या वेतन के रूप में दिया जाता है, जो उसे भुखमरी और कुपोषण की सतत स्थिति में बनाये रखता है और सिर्फ़ इसलिए जीवित रखता है कि वह पूँजीपति के लिए मुनाफ़े का उत्पादन जारी रख सके। इस पूरी लूट को पूँजीवादी संविधान और क़ानून जायज़ और वैध बनाता है। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था स्वयं एक भ्रष्टाचार और अन्याय है।

ऐसे में, सवाल सिर्फ़ घोटालों को रोकने और भ्रष्टाचार के इस सबसे अभिव्यक्त नंगे रूप को देख लेने का नहीं है। वास्तविक सवाल यह देखने और समझने का है कि पूँजीवादी व्यवस्था के तहत हम इन घोटालों के खात्मे की कल्पना नहीं कर सकते और दूसरी बात यह कि अगर ये घोटाले न भी होते तो पूँजीवादी व्यवस्था के तहत वैध ठहराया जाने वाला भ्रष्टाचार अपनी जगह पर बना रहेगा। इसलिए केन्द्रीय प्रश्न निजी मुनाफ़े पर टिकी समूची पूँजीवादी व्यवस्था के विकल्प पर सोचने का है। इस विकल्प की परिकल्पना करने और फिर उसे वैज्ञानिक तरीक़े से हकीकत में उतारने का कार्यभार आज इस देश के संवेदनशील और न्यायप्रिय नौजवानों और मज़दूर वर्ग के कन्धों पर है। बाबा रामदेव ब्राण्ड कोई भी आदर्शवादी निम्न मध्यवर्गीय सोच हमें पूँजीवाद-रूपी भ्रष्टाचार से मुक्ति नहीं दे सकती। इससे मुक्ति का रास्ता पूँजीवादी व्यवस्था

और समाज के विरुद्ध इस देश के आम मेहनतकश अवाम के इन्क़लाब के रास्ते जाता है और इसका गन्तव्य स्थान है एक ऐसी व्यवस्था जिसमें जीवन की हर बुनियादी ज़रूरत को पूरा करने वाला वर्ग ही सत्ता पर क़ाबिज़ हो। परजीवी मुनाफ़ाख़ोर जमातों के लिए ऐसी व्यवस्था में कोई जगह नहीं हो सकती। यह एक लम्बा और कठिन रास्ता है। लेकिन यही एकमात्र विकल्प है। किसी क़िस्म का सुधार या पैबन्दसाज़ी किसी काम नहीं आयेगी। इसलिए देश के समानताप्रिय चिन्तनशील नौजवानों को अभी से ही इस दिशा में सोचना शुरू कर देना चाहिए।

(आह्वान, नवम्बर 2010)

अण्णा हज़ारे का भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान और मौजूदा व्यवस्था से जुड़े कुछ अहम सवाल

अभिनव सिन्हा

संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार का दूसरा कार्यकाल स्वातन्त्र्योत्तर भारत के इतिहास के सबसे बड़े घोटालों के लिए याद किया जायेगा : टू जी स्पेक्ट्रम घोटाला, कॉमनवेल्थ खेल घोटाला, आदर्श सोसायटी घोटाला...। फ़ेहरिस्त लम्बी है। सैनिकों की विधवाओं के प्लैट हथियाने, बुजुर्गों के पेंशन की रकम हड़पने और छोटे निवेशकों के निवेश में हेर-फेर से लेकर राडिया-टाटा टेप से उजागर कारपोरेट घोटाले द्वारा सरकारी खज़ाने को अरबों का चूना लगाने तक, भारत के शासक वर्ग के हर धड़े ने हर किस्म के भ्रष्टाचार के हर रिकॉर्ड को ध्वस्त कर दिया। पूँजीवादी राजनीतिक दलों के नेताओं, नौकरशाहों और पूँजीपतियों द्वारा किया जाने वाला भ्रष्टाचार कोई नया मसला नहीं है। लेकिन वर्ष 2009 से 2011 तक की अवधि ने घोटालों के ज़बरदस्त आकार-प्रकार के चलते इसे देश की जनता के लिए एक बड़ा मुद्दा बना दिया। निश्चित रूप से, इसमें मीडिया की भी अहम भूमिका रही। अरबों-खरबों के घोटालों के अलावा विदेशों में जमा काले धन का मुद्दा भी जमकर उछला और यह बात सामने आयी कि विदेशों में भारतीयों के करीब 1400 अरब डॉलर जमा हैं, जो हवाला कारोबार समेत तमाम किस्म के अवैध रास्तों से विदेश पहुँचा है। कुल मिलाकर, इन सभी घोटालों और पर्दाफ़ाशों ने देश के शासक वर्ग और उसकी चाकरी करने वाली सरकार और नौकरशाही को इस क़दर नंगा कर दिया है कि उसके शरीर पर सूत का एक धागा भी नहीं बचा है। ऐसे में सरकार और विपक्षी दलों के बीच जो 'तू नंगा-तू नंगा' की चीख-चीत्कार मची, उसने पूरी पूँजीवादी व्यवस्था

के घिनौने, सड़ चुके और बदबू मारते चरित्र को और ज़्यादा उघाड़कर रख दिया।

जन्तर-मन्तर का भ्रष्टाचार-विरोधी शो, सॉरी, आन्दोलन!

इसी पूरे सन्दर्भ में अण्णा हज़ारे का भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान शुरू हुआ। वास्तव में, इस अभियान की नींव नवम्बर 2010 में दिल्ली में हुई भ्रष्टाचार-विरोधी रैली में पड़ी थी। इसके बाद 30 जनवरी 2011 को रामलीला मैदान से जन्तर-मन्तर तक एक रैली और हुई। इसी दौरान, अण्णा हज़ारे, अरविन्द केजरीवाल, किरण बेदी, स्वामी अग्निवेश और बाबा रामदेव जैसे तमाम लोग भ्रष्टाचार-विरोधी जन लोकपाल बिल का मसौदा तैयार करने के लिए एकत्र हुए। प्रशान्त भूषण को मैं अभी एक साँस में इस सूची में नहीं गिन रहा हूँ, जिसके कारण आगे जन लोकपाल बिल के मसौदे के बारे में प्रशान्त भूषण की टिप्पणियों की आलोचनात्मक विवेचना करते हुए मैं स्पष्ट करूँगा। इसके बाद, मार्च में अण्णा हज़ारे ने प्रधानमन्त्री को पत्र लिखकर भ्रष्टाचार के विरुद्ध त्वरित और प्रभावी कदम उठाने की माँग की और ऐसा न होने पर आमरण अनशन शुरू करने की चेतावनी दी। और इसके बाद शुरू हुआ जन्तर-मन्तर पर अण्णा हज़ारे का महा-शो! 5 अप्रैल से 9 अप्रैल तक हज़ारे का आमरण अनशन जारी रहा। माँग यह थी कि सरकार अपने लोकपाल बिल के मसौदे को रद्द कर उस जन लोकपाल बिल के मसौदे को ही अन्तिम रूप दे दे, जो अण्णा की “सिविल सोसायटी” मण्डली ने तैयार किया था। यहाँ एक बात का जिक्र कर देना उपयोगी होगा। सरकार अपने मसौदे को अभी अन्तिम रूप नहीं दे रही थी और राष्ट्रीय सलाहकार परिषद अपने सुझावों के साथ सरकार के पास जाने वाली थी। गौरतलब है कि इस राष्ट्रीय सलाहकार परिषद में “सिविल सोसायटी” की एक दूसरी मण्डली बैठी हुई थी, जिसमें ज्यॉं द्रेज़, हर्ष मन्दर और अरुणा रॉय जैसे दिग्गज खिलाड़ी थे! लेकिन, ठीक उसके पहले “सिविल सोसायटी” की अण्णा मण्डली ने अपना आन्दोलन शुरू करके सारी ‘लाइमलाइट’ छीन ली! अरुणा रॉय तो इस पर खासी नाराज़ थीं। हर्ष मन्दर ने भी अण्णा के ‘गैर-जनतान्त्रिक’ तरीक़े की काफ़ी बखिया उधेड़ी। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद के अन्य सदस्यों की प्रतिक्रिया भी कमोबेश ऐसी ही थी। ख़ैर, अण्णा के जन्तर-मन्तर तमाशे की शुरुआत के साथ ही देश के कई शहरों में पढ़े-लिखे मध्यवर्ग के लोग और “सभ्य” नागरिक और बुद्धिजीवी समर्थन में सड़कों पर उतर आये! पूरा पूँजीवादी मीडिया, जिसे हर वक्त टीआरपी बढ़ाकर मुनाफ़ा पीटने की चिन्ता रहती है, मौक़े

के इस्तेमाल के लिए बदहवासी में कूद पड़ा। जन्तर-मन्तर पर 'मेक शिफ्ट' स्टूडियो बना लिये गये। कोई चैनल अण्णा को 'आज का गाँधी' बोल रहा था, तो कोई सीधा प्रसारण करते हुए 'ग्राउण्ड जीरो' से 'रिपोर्टिंग' कर रहा था! जन्तर-मन्तर को फ़ौरन ही भारत का तहरीर चौक घोषित कर दिया गया। और जब 9 अप्रैल को सरकार अण्णा की माँगों के समक्ष झुक गयी, तब तो मीडिया पागल ही हो गया! विश्व कप की जीत को अभी कुछ ही दिन हुए थे; मीडिया ने रिपोर्ट किया : 'इण्डिया विंस अगेन! अण्णा ने अनशन तोड़ा!' और जो वर्ग विश्व कप की विजय पर सड़कों पर कारों-मोटरसाइकिलों पर बियर की बोतलों के साथ हुड़दंग मचा रहा था, वही वर्ग हज़ारे के अनशन की विजय पर भी देशभक्ति के गाने बजाता हुआ, लगभग वैसे ही हुड़दंग मचा रहा था। यह सबकुछ देखकर भयंकर उबकाई आ रही थी। और रह-रहकर मार्क्स की वह उक्ति याद आ रही थी : 'बुर्जुआ वर्ग का राष्ट्रवाद मण्डी में पैदा होता है।' मीडिया इसे युवा भारत के उदय के रूप में पेश कर रहा था। वास्तव में, यह भी खर्च करने और मौज़-मस्ती करने का एक अवसर था! खैर, इस पूरे आन्दोलन के वर्ग चरित्र और सामाजिक आधारों का विश्लेषण हम बाद में करेंगे।

कांग्रेस-नीत सरकार का अण्णा के सामने "झुकना" वास्तव में झुकना था ही नहीं। इससे तो कांग्रेस सरकार को यह मौका मिला कि इस मुद्दे पर वह एक सोची-समझी और "संवेदनशील" दिखने वाली प्रतिक्रिया देकर जनता के बीच एक "सोचने वाली सरकार" की छवि को मजबूत करे और यह दिखावा कर सके कि भ्रष्टाचार को लेकर वह गम्भीर है। भाजपा को अण्णा को अपना आदमी बताने और कांग्रेस पर हमला करने का अवसर मिल गया; अच्छा दृश्य पैदा हुआ था! भाजपा कह रही थी - "तुम हमारे हो!" अण्णा कह रहे थे - "मैं तुम्हारा नहीं हूँ!" खैर, विपक्ष की अन्य पार्टियाँ भी जल्दी ही अण्णा की तरफ़दारी में आ गयीं, यहाँ तक कि सीपीआई (एमएल) लिबरेशन भी! वैसे इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सीपीआई (एमएल) वामपन्थी अवसरवाद और संकीर्णता के चरमोत्कर्ष का प्रतिनिधित्व करती है। वामपन्थी आन्दोलन के एक पुराने व्यक्ति ने एक बार मुझे बताया था, "अगर मजबूरी में किसी संशोधनवादी पर भरोसा करना पड़े, तो सबसे ज़्यादा सीपीआई वालों पर करो, वे शरीफ़ नागरिक होते हैं; उसके बाद सीपीएम वालों पर करो, वे चालाक कूटनीतिज्ञ होते हैं, लेकिन जितनी मदद का वायदा करते हैं, आमतौर पर उतना कर देते हैं; लेकिन एमएल वाले जो बोलें उसका विलोमार्थ निकालो और उसे ही सच मानो!" अण्णा के बाजे में संगत देने के लिए पंगत में बैठने दौड़े आये सीपीआई (एमएल) ने उस बुजुर्ग कॉमरेड की बात को शत-प्रतिशत सही

साबित किया है! खैर, अगर थोड़ा गौर से देखें तो हम साफ़ तौर पर पायेंगे कि जल्द ही सरकार और भाजपा समेत विपक्ष की लगभग सभी पार्टियाँ (कुछ अपवादों को छोड़कर) अण्णा के पक्ष में बोलने लगीं! अब समझ में यह नहीं आ रहा था कि इस भ्रष्टाचार-विरोध का निशाना कौन था? सभी राजी थे कि भ्रष्टाचारियों के खिलाफ़ एक मज़बूत जन लोकपाल अधिनियम पास होना चाहिए! इसके दो प्रमुख कारण थे। एक तो यह कि सभी पार्टियाँ जानती हैं कि किसी भी प्रकार का कोई क़ानून भ्रष्टाचार और भ्रष्टाचारियों पर वास्तव में लगाम नहीं कस सकता; और दूसरा कारण यह था कि इस आन्दोलन की टाइमिंग एकदम सटीक थी। पश्चिम बंगाल, असम, केरल, आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु में विधानसभा चुनाव होने वाले थे और भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान और जन लोकपाल बिल के समर्थन का जुबानी जमाखर्च करने का स्पष्ट चुनावी लाभ मिल सकता था। ऐसे में, यह स्थिति तो पैदा होनी ही थी। ऊपर से मीडिया ने, जो वास्तव में, कारपोरेट जगत के ही अधीन है और उन्हीं के हितों की सेवा करता है, भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान को 'एक नयी क्रान्ति', 'नयी आज़ादी की लड़ाई', 'तहरीर चौक' आदि बताकर जनता के लिए भ्रष्टाचार को ही सभी समस्याओं की जड़ बनाने के लिए हर सम्भव प्रयास किया।

कुल मिलाकर, भारत के शासक वर्गों ने एक बार फिर अपने ही विरोध का प्रारूप तैयार करने और फिर उसे कुशलतापूर्वक अपने वर्चस्व का हिस्सा बनाने में फिर से कामयाबी हासिल की। वास्तव में, हुस्नी मुबारक और बेन आबिदीन अली और अन्य अरब शासकों को भारत के शासक वर्ग से कुछ सीखना चाहिए! ज़रा गौर कीजिये कि यहाँ क्या करतब किया गया है। पहले जमकर भ्रष्टाचार करो, खरबों के घोटाले करो, रिश्वतखोरी, कमीशनखोरी, सम्पत्ति कब्ज़ा और भाई-भतीजावाद की गन्द मचा दो; और उसके बाद इस नग्नतापूर्ण भ्रष्टाचार के विरुद्ध जनअसन्तोष का इस्तेमाल एक ऐसी स्थिति पैदा करने के लिए करो जिसमें शासक वर्ग भ्रष्टाचार के मुद्दे पर संवेदनशील और गम्भीर रुख़ अपनाता नज़र आये और इस प्रकार उसका वर्चस्व जनता के बीच और मज़बूत हो। मीडिया ने शासक वर्ग को एक संवेदनशील प्रतिक्रिया देते हुए दिखलाकर इस पूरे तमाशे का सही तरीक़े से उपसंहार करने में पूरी मदद की। मीडिया ने इस पूरे 'शो' को एक 'नयी क्रान्ति' बतलाया जो वास्तव में मौजूदा व्यवस्था के ही वर्चस्व को और गहरा बनाता है। जो कोई इस 'नयी क्रान्ति' की सम्भावनासम्पन्नता को लेकर सशंकित था, सवाल उठा रहा था, या आलोचना कर रहा था उसे सिरफ़िरा, बेवकूफ़,

नादान या षड्यन्त्रकारी घोषित कर दिया गया। यहाँ असहमति या विरोध के लिए कोई स्थान नहीं था। बशर्ते कि आप कपिल सिब्बल या अरुणा रॉय न हों!!! यानी, बस वह विरोध हानिकारक नहीं होना चाहिए, बल्कि वह भी 'शो' का ही एक हिस्सा होना चाहिए।

एक और बात गौरतलब है। अण्णा हज़ारे जन्तर-मन्तर पर अनशन पर बैठने वाले पहले व्यक्ति नहीं थे। इसके पहले भी बहुत से लोगों ने जन्तर-मन्तर पर जायज़ माँगों को लेकर अनशन और प्रदर्शन किये हैं। लेकिन सरकार, पढ़े-लिखे खाते-पीते शहरी मध्यवर्ग की ऐसी हर्षातिरेकी प्रतिक्रिया और मीडिया का ऐसा उत्सव पहले तो कभी नहीं दिखा। इरोम शर्मिला मणिपुर में आदमखोर सशस्त्र सुरक्षा बल विशेषाधिकार क़ानून के खिलाफ़ पिछले 10 वर्षों से भी अधिक समय से आमरण अनशन पर हैं, लेकिन सरकार उन पर कोई ध्यान नहीं देती और उनके जन्तर-मन्तर पर आने पर कोई शोर नहीं मचता। शहर के कुछ बुद्धिजीवी, कुछ छात्र और चन्देक पत्रकार पहुँचते हैं। और उसके बाद पुलिस उन्हें उठा ले जाती है और जबरन उन्हें जीवन-रक्षक द्रव दिये जाते हैं। सर्वोच्च न्यायालय और इसी "सिविल सोसायटी" के तमाम प्रतिनिधियों द्वारा इस दमनकारी क़ानून के खिलाफ़ टिप्पणियों के बावजूद न सरकार ने इस पर कोई ध्यान दिया और न ही मीडिया ने। और न ही नव उदारवादी नीतियों का लाभप्राप्तकर्ता खाता-पीता शहरी मध्यवर्ग राष्ट्रभक्ति की भावना से लिथड़कर सड़कों पर निकला। एक और उदाहरण देखें। 125वें मई दिवस के अवसर पर हज़ारों मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन के तहत 260 श्रम क़ानूनों को लागू करवाने और नये श्रम क़ानूनों के निर्माण की माँग को लेकर जन्तर-मन्तर पर इकट्ठा हुए और उसी दिन अण्णा हज़ारे के 20-25 चले भी जन्तर-मन्तर पर 'मैं अण्णा हूँ' की टोपी लगाये पहुँचे थे। लेकिन मीडिया को हज़ारों मज़दूरों का रेला नहीं दिखा, वे 25 भ्रष्टाचार-विरोधी सिपाही ज़रूर नज़र आ गये! स्पष्ट है कि मीडिया और सरकार की अण्णा के आन्दोलन पर जिस तरह की प्रतिक्रियाएँ हुईं उसके कई कारण थे, जिसमें भ्रष्टाचार के उन्मूलन की चिन्ता और 'नयी क्रान्ति' तो कम-से-कम कहीं नहीं ही थे!

अब कुछ अन्य सवाल जिनका जवाब मैं यहाँ नहीं दूँगा। कारण यह कि वे सवाल ही ग़लत हैं। जैसे कि अण्णा का इरादा, अण्णा की ईमानदारी, वगैरह। ऐसे मुद्दों पर बहस करना वैज्ञानिकों का काम नहीं होता। इस पर जितने लोग पक्ष में हो सकते हैं, उतने ही विपक्ष में। और वैसे भी इरादों और ईमान के सवाल की भूमिका इतिहास में निर्धारक नहीं होती। जो चीज़ निर्धारक होती है, वह होती है – राजनीति और विचारधारा; और अण्णा की विचारधारा और

राजनीति पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे।

दूसरी चीज़ जिस पर मैं चर्चा नहीं करूँगा, वह है अण्णा से उन कामों की उम्मीद करना जो एक गाँधीवादी करता। अण्णा ने स्वयं भी जन्तर-मन्तर पर स्पष्ट कर दिया था कि आज गाँधी की ज़रूरत नहीं है, बल्कि शिवाजी की ज़रूरत है। मंच पर मौजूद रूपकों से लेकर वहाँ मौजूद अण्णा के चेहलों के भजन, हवन, मन्त्रोच्चार और नारों तक से जो कुछ अभिव्यक्त हो रहा था, वह कुछ भी था लेकिन गाँधीवाद नहीं था। कुछ नारे नेताओं को गिद्धों को खिला देने की बात कर रहे थे, तो कुछ सभी पार्टियों को चोर बता रहे थे। मंच पर भारत के नक्शे के ऊपर एक सुदर्शन भारत माता थीं, और तमाम धार्मिक प्रतीकों की भरमार थी। इसलिए, अण्णा को गाँधीवादी मानकर हम कोई सवाल नहीं करेंगे। बल्कि हम यह मानकर अपने विश्लेषण को आगे बढ़ायेंगे कि अण्णा हज़ारे किसी भी कोण से गाँधीवादी नहीं हैं।

इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, सबसे पहले कुछ सबसे बुनियादी सवालों के बारे में साफ़ हो लेना ज़रूरी है। मसलन, क्या मौजूदा बिल या कोई भी अन्य क़ानून भ्रष्टाचार का खात्मा कर सकता है? अण्णा का जन लोकपाल बिल क्या है? भ्रष्टाचार क्या है? इसके कारण क्या हैं? इसके बाद हम अण्णा हज़ारे की विचारधारा और राजनीति के बारे में चर्चा कर सकते हैं और इस सन्दर्भ में हम अण्णा हज़ारे के 'आदर्श' गाँव रालेगण सिद्धी में उनके प्रयोग का आलोचनात्मक विवेचन करेंगे। लेकिन पहले चर्चा भ्रष्टाचार, भ्रष्टाचार-विरोधी क़ानून, जन लोकपाल बिल, अण्णा के आन्दोलन के वर्ग चरित्र और सामाजिक आधार और "सिविल सोसायटी" के हल्ले की।

भ्रष्टाचार : परिभाषा, अर्थ और निहितार्थ

चूँकि हमें यहाँ अण्णा हज़ारे के मौजूदा भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान के चरित्र, प्रभाविता और परिणाम को समझना है इसलिए बुनियादी सवालों से शुरू करना ही सही होगा। सबसे अहम सवाल है कि भ्रष्टाचार को परिभाषित कैसे किया जाये। हम अरुणा रॉय से गम्भीर वैचारिक और राजनीतिक मतभेद रखते हैं, लेकिन हाल ही में 'फ़्रण्टलाइन' नामक अंग्रेज़ी पत्रिका को दिये अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने एक बात बिल्कुल सही कही है। रॉय कहती हैं कि भ्रष्टाचार दूर करने पर सबकी सहमति है लेकिन भ्रष्टाचार क्या है, यह प्रश्न उठते ही झगड़ा शुरू हो जाता है। ऐसे में, भ्रष्टाचार की सही वैज्ञानिक परिभाषा क्या हो? अर्थशास्त्र की दृष्टि से शुरू करते हैं! किसी

समाज में जो भी कुल उत्पादन होता है वह समाज के अलग-अलग वर्गों में बँट जाता है। हम जब उत्पादन की बात करते हैं तो उसमें सभी वस्तुओं समेत सभी सेवाएँ भी शामिल हैं। यह किस अनुपात में समाज के अलग-अलग तबकों में बँटता है, यह इस बात से तय होता है कि समाज में उत्पादन, वितरण और मालिकाने के किस किस्म के सम्बन्ध प्रभावी हैं। आवश्यक उपभोग के बाद जो भी बेशी बचता है, उसे वही तबका हस्तगत करता है जिसके हाथ में राजनीतिक सत्ता होती है। अब भ्रष्टाचार के सवाल को लेते हैं। भ्रष्टाचार किसी समाज में इस कुल उत्पादन में कोई इज़ाफ़ा नहीं करता है, जो हस्तगत किये जाने के लिए शासक तबकों के समक्ष उपलब्ध है। भ्रष्टाचार वास्तव में शासक वर्गों को पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा तय “नियमों और क़ानूनों” का उल्लंघन करके किसी दिये गये क्षेत्र या सेक्टर के उत्पादन के अधिशेष में अपना हिस्सा बढ़ाने और अपने बीच उसका वितरण करने का अवसर देता है। यानी, कुल उत्पादन में अपने द्वारा निचोड़े जाने वाले अधिशेष के अनुपात को उन तरीकों और प्रणालियों से बढ़ाना जिन्हें स्वयं पूँजीवादी संविधान और क़ानून-व्यवस्था “अनुचित” मानती है। यह है पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के अनुसार भ्रष्टाचार की परिभाषा। यह पूरी प्रक्रिया रिश्वतखोरी, कमीशनखोरी, भाई-भतीजावाद, अनुचित ‘फ़ेवर’ दिये जाने के रूप में सम्पन्न होती है और इसे अंजाम देने वाले होते हैं राजनेता, नौकरशाह और पूँजीपति वर्ग।

लेकिन इससे भी अहम एक सवाल पर गौर करें। व्यवस्था यह अधिशेष पैदा ही किस प्रकार करती है? इसका हस्तगतीकरण और पुनर्वितरण किस प्रकार होता है? अगर इस दृष्टिकोण से सवाल को देखें, तो हम पाते हैं कि वास्तविक भ्रष्टाचार वह पूरी व्यवस्था ही है जिसके तहत उत्पादन और वितरण होता है और स्वामित्व के सम्बन्ध स्थापित हैं। सबसे पहले मैक्रो दृष्टि से इसे समझते हैं। आज से करीब तीन वर्ष पहले के एक आँकड़े के मुताबिक़ देश की ऊपर की दस फ़ीसदी आबादी के पास देश की कुल परिसम्पत्ति का करीब 85 फ़ीसदी है, जबकि नीचे की 60 प्रतिशत आबादी के पास महज़ 2 प्रतिशत है। अगर राष्ट्रीय आय में बँटवारे की बात करें तो *नेशनल काउंसिल फ़ॉर एप्लाइड इकोनॉमिक रिसर्च* के अनुसार 2009-10 में कुल राष्ट्रीय आय में नीचे की 80 फ़ीसदी आबादी का हिस्सा आधे से भी कम है। जबकि ऊपर के 20 फ़ीसदी अमीरों की आय कुल राष्ट्रीय आय के आधे से भी ज़्यादा है। हम सभी जानते हैं कि ये नीचे के 80 फ़ीसदी लोग कौन हैं। यह वह आबादी है जो हर चीज़ बनाती और चलाती है, एक पिन

से लेकर गगनचुम्बी इमारतों तक, अनाज से लेकर सभी सेवाओं तक। प्रत्यक्षतः अर्थव्यवस्था में समस्त मूल्य के सर्जक यही 80 फीसदी लोग हैं, लेकिन उन्हें इसका 10 फीसदी भी नहीं मिलता। यह कैसे होता है? वैसे तो यह एक लम्बी चर्चा का विषय है, लेकिन संक्षेप में एक माइक्रो दृष्टि डाल लेने से कुछ चीजें साफ़ हो जाती हैं। एक पूँजीपति का उदाहरण लीजिये। मान लीजिये कि वह एक घड़ी का कारख़ाना लगाता है। इस कारख़ाने में काम करने वाला मजदूर अपने ज़रूरत लायक़ मूल्य का उत्पादन तो मात्र 3 या 4 घण्टे में ही कर लेता है, लेकिन वह (अगर क़ानूनन काम करे तो) 8 घण्टे तक काम करता है। लेकिन बदले में पूँजीपति उसे उसके द्वारा पैदा किये गये मूल्य के बराबर मजदूरी नहीं देता। वह उसे सिर्फ़ इतना देता है कि वह अपनी मेहनत करने की ताक़त का पुनरुत्पादन कर सके और अपने परिवार को जीने की ख़ुराक दे सके। और यह सब तब होता है जब न्यूनतम मजदूरी के नियम का पालन किया जाये! हम सब जानते हैं कि न्यूनतम मजदूरी कुल मजदूर आबादी के 93 प्रतिशत को नहीं मिलती और वह मूँगफ़लियों के मोल अपनी पूरी ज़िन्दगी का आधा वक़्त कोल्हू के बैल की तरह खटता है। लेकिन अभी हम एक सन्त 'अभ्रष्टाचारी' पूँजीवाद की कल्पना करते हैं, जिसमें सभी श्रम क़ानूनों को लागू किया जाता है। तब भी, यहाँ स्पष्टतः भ्रष्ट+आचार हो रहा है। यह आचार व्यवस्था सदाचार तो क़तई नहीं है कि 80 फीसदी मेहनतकश दिनों-रात खटने के बाद हरेक वस्तु और सेवाएँ पैदा करें और उन्हें बदले में उसका जायज़ हिस्सा भी न मिले। वैसे तो सवाल महज़ यह जायज़ हिस्सा मिलने का नहीं है। सवाल तो यह है कि यह 80 फीसदी लोग ही उत्पादक हैं, यही समाज की बहुसंख्या हैं, यही आवश्यक सामग्रियों के प्रमुख उपभोक्ता हैं, यही खेतों-खलिहानों से लेकर कल-कारख़ानों तक को रोशन करते हैं और इसलिए उन्हें यह तय करने का भी अधिकार होना चाहिए कि क्या पैदा करना है, कैसे पैदा करना है और किनके लिए पैदा करना है और साथ ही समस्त संसाधनों पर उन्हीं का सामूहिक नियन्त्रण होना चाहिए। यही सबसे न्यायसंगत और उचित व्यवस्था होगी। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि कारख़ाना पूँजीपति का है, पूँजी उसकी है, इसलिए मुनाफ़ा कमाना, या अधिशेष को हस्तगत करना उसका जन्मसिद्ध अधिकार (मानो 'दिव्य' रूप से प्रदत्त!) है। आइये, अब इस दावे पर भी क़रीबी से विचार करें।

कारख़ाना भी पूँजी का ही एक स्वरूप है। पूँजीपति जो मुद्रा निवेश करता है, वह भी पूँजी है। पूँजी क्या है? पूँजी वास्तव में भण्डारित श्रम

होती है। सभी वस्तुओं का उत्पादन श्रम से होता है; यह श्रम पूँजीपति नहीं करता। यह मजदूर वर्ग ही करता है। जहाँ तक मुद्रा पूँजी का प्रश्न है, मुद्रा पूँजी वास्तव में उत्पादित वस्तु या सेवा का ही मौद्रिक प्रतिबिम्बन है। ऐसा न समझना बचकाना होगा। मेरे खयाल से हर बच्चा बचपन में मुद्रा के सम्पर्क में आने और पहली बार अभाव या कमी से साबका पड़ने पर यह कल्पना ज़रूर करता है कि सरकार ज़्यादा नोट क्यों नहीं छाप देती? तब तक बच्चा यह नहीं समझता कि वास्तव में रिज़र्व बैंक अपनी सुनिश्चित मौद्रिक नीति के अनुसार ही मुद्रा छाप सकता है, जो कि देश के सकल घरेलू उत्पाद, कुल राष्ट्रीय आय, आदि के आधार पर निर्धारित होती है। देश में होने वाले कुल उत्पादन के आधार पर ही मुद्रा पूँजी अस्तित्वमान होती है। और यह कुल उत्पादन क्या है? यह वस्तुकृत श्रम (objectified labour) है, जिसका मौद्रिक प्रतिबिम्बन मुद्रा होती है जो कि मूल्य के भण्डारण का कार्य करती है। इस रूप में पूँजी और कुछ नहीं बल्कि भण्डारित श्रम (stored labour) है। और श्रम का एक ही स्रोत है – मजदूर वर्ग। पूँजीपति जिस भी चीज़ का मालिक है वह वास्तव में श्रम की ही पैदावार है, वह मजदूर वर्ग का हक़ है। लेकिन वर्ग समाज के पूरे इतिहास में मालिकाने के बदलते स्वरूप और उत्तराधिकार के वर्ग क़ानून की बदौलत उसे कारख़ाने और अन्य संसाधनों का मालिकाना प्राप्त होता है। यह उसकी निजी क्षमता के कारण उसे नहीं मिलता, उसके बाप के चलते उसे मिलता है! जहाँ तक प्रबन्धन की क्षमता और कुशलता का सवाल है, पूँजीवाद के प्रादुर्भाव के बाद के कुछ समय को छोड़ दिया जाये तो पूँजीपति वर्ग की सामाजिक रूप से उपयोगी भूमिका समाप्त हो चुकी है। उत्पादन से लेकर प्रबन्धन तक का काम अब उजरत पर खटने वाले मजदूर करते हैं। आज का पूँजीपति कोई काम का जानकार या उस्ताद भी नहीं है जिसके प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण में मजदूर कुशल बनते हों और काम सीखते हों। तकनोलॉजी के उन्नत होने के साथ वैसे भी कुशलता कोई अहम सवाल नहीं रह गया है। अधिकांश पेशों के यन्त्रों और उपकरणों को चलाने में कुशल होना अब कुछ घण्टों का मामला होता है। और यह अल्पकालिक प्रशिक्षण भी पूँजीपति वर्ग नहीं कराता, बल्कि पहले से कुशल मजदूर या पर्यवेक्षक ही कराते हैं। पिछले 200 और विशेष रूप से 150 वर्षों से पूँजीपति पूर्ण रूप से परजीवी वर्ग में तब्दील हो चुका है। यह एक 'कूपन काटू', शेयर बाज़ार में सट्टेबाज़ी और दलाली करने वाला, वित्त पूँजी की हेरा-फेरी पर मुनाफ़ा पीटने वाला एक जॉक बन चुका है। इसका उत्पादन से दूर-दूर तक कोई

रिश्ता नहीं रह गया है। किसी भी दृष्टि से देखें तो इसका उत्पादन के किसी हिस्से पर कोई जायज हक नहीं है। लेकिन पूँजीवादी संविधान के अनुसार, उसे पूँजी संचय करने, मुनाफ़ा कमाने और बिना कोई भी काम किये ऐशो-आराम की ज़िन्दगी बिताने और साथ ही मजदूर वर्ग को सबकुछ पैदा करने और बनाने के बावजूद बदहाली, दरिद्रता, भुखमरी, बीमारी, असुरक्षा और कुपोषण के गर्त में धकेल देने का हक़ क़ानूनी तौर पर प्राप्त है! क्यों? जवाब सरल और सीधा है! क्योंकि यह एक पूँजीवादी व्यवस्था और समाज है! विधायिका, कार्यपालिका से लेकर न्यायपालिका तक राजसत्ता के सभी उपकरण और पूँजीवादी मीडिया पूँजीपति वर्ग के हितों के अनुरूप ही बने होते हैं और काम करते हैं। ऐसे में, निश्चित रूप से इनसे यही उम्मीद की जा सकती है कि ये मूल और मुख्य रूप से पूँजीपति वर्ग के हितों की हिफ़ाज़त करें। हाँ, पूँजीवादी जनतन्त्र के विभ्रमों को बरकरार रखने के लिए आम जनता को भी कुछ हक़ ज़रूर दिये जाते हैं, जिनमें से अधिकांश का व्यावहारिक तौर पर कोई अर्थ नहीं होता।

मेरे विचार में यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि अगर पूँजीवादी व्यवस्था अपने द्वारा बनाये गये नियमों और क़ानूनों के अनुरूप भी काम करे तो भी वास्तव में यह स्वयं एक भ्रष्टाचार है। पूँजीवाद अपनेआप में पूरी जनता के विरुद्ध एक जघन्य अपराध और भ्रष्टाचार है। भ्रष्टाचार की सही परिभाषा वही है जो पूँजीवादी व्यवस्था की परिभाषा है! 15 फ़ीसदी धनिकों का 80 फ़ीसदी आम मेहनतकश जनता पर “जनतान्त्रिक” शासन!! या, 15 फ़ीसदी धनिकों की 80 फ़ीसदी आम मेहनतकश जनता पर तानाशाही।

हम देख सकते हैं कि बिल्कुल “क़ानूनी” और “उचित” तरीक़े से काम करने पर भी पूँजीवादी व्यवस्था मेहनतकशों की लूट पर टिके भ्रष्टाचार का ही दूसरा नाम है। लेकिन यह कभी अपने बनाये क़ानून और उचित तरीक़ों से भी काम नहीं करती। पूँजीवादी व्यवस्था निजी लाभ की प्रेरक शक्ति पर टिकी होती है। इसका मूल होता है मुनाफ़ा, लालच, लोभा। यही कारण है कि पूँजीवादी व्यवस्था की एक वि(कु!?)ख्यात चिन्तक आयन रैण्ड का नारा है – “इट्स गुड टू बी ग्रीडी!” (लालची होना अच्छा है)! एक मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था और समाज में शासक वर्ग कभी नियमबद्ध लूट और मुनाफ़े से सन्तुष्ट नहीं होता। इसका प्रमुख कारण यह है कि पूँजी का नियम ही यही है कि वह अधिक से अधिक मात्रा में संचित हो, फूले, विस्तारित हो या फिर ख़त्म हो जाये। यही पूँजीवादी व्यवस्था का मूलमन्त्र है। इसी की एक अभिव्यक्ति पूँजीपति वर्ग का वर्ग चरित्र है। इसके सभी

हिस्सों की मूल पहचान इनका असीमित लालच और लोभ है। लोगों की जान की कीमत पर भी मुनाफ़ा और अधिकतम मुनाफ़ा! इसलिए जल्दी ही क़ानूनी दायरों में सीमित लूट क़ानूनी दायरों की धज्जियाँ उड़ा देती है। यह एक विच्युति के रूप में नहीं बल्कि नियम के रूप में होता है। जो भ्रष्टाचार को पूँजीवादी व्यवस्था की विच्युति समझता है, वह न तो भ्रष्टाचार को ही समझता है न ही पूँजीवादी व्यवस्था को। पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर यह होना ही होता है। जब लूट पूँजीवाद के ही खेल के नियमों को तोड़ देती है और रिश्वतखोरी, कमीशनखोरी और भाई-भतीजावाद के रूप में गंगी होकर जनता के सामने उपस्थित हो जाती है, तब उसे 'भ्रष्टाचार' कहा जाने लगता है। यह परिघटना सिर्फ़ शासन के ऊपरी संस्तरों पर नहीं घटित होती है, हालाँकि यह वहाँ शुरू ज़रूर होती है, क्योंकि नियमों और क़ानूनों को तोड़ने-मरोड़ने के लिए सबसे बेहतर स्थिति में उच्च नेता, नौकरशाह और बड़े कारपोरेट होते हैं। लेकिन यह एक शीर्ष से नीचे की ओर बहने वाली धारा है। प्रशान्त भूषण ने एक साक्षात्कार में ठीक ही कहा है कि भ्रष्टाचार एक 'टॉप-डाउन फेनॉमेनन' है। पूँजीवादी समाज में लालच, लोभ और लूट की संस्कृति पूरे समाज के पोर-पोर में समा जाती है। ऊपर अरबों रुपये के वारे-न्यारे होते हैं तो पी.डब्ल्यू.डी. या म्यूनिसिपैलिटी के दफ़्तर में बैठने वाला एक छोटा बाबू कुछ सौ या हज़ार से अपनी ज़ेब गरम करता है। निजी मालिकाने और निजी मुनाफ़े पर टिकी व्यवस्था और समाज में आप अन्य किसी चीज़ की उम्मीद भी नहीं कर सकते हैं। लोभ और लालच नियम और क़ानून नहीं जानते हैं। हाँ, जब क़ानून और नियम को लुटेरे अपने नौनिहालों का पोतड़ा बनाने पर आमादा हो जाते हैं, तब आम जनता में इसके ख़िलाफ़ आक्रोश पैदा होता है और इस आक्रोश को वास्तविक भ्रष्टाचार, यानी कि पूँजीवाद, तक पहुँचने से रोकने के लिए व्यवस्था अपनी सहज गति से कोई हज़ारे, बेदी, केजरीवाल, या अग्निवेश पैदा करती रहती है। ऐसा न किया जाये, तो व्यवस्था के वर्चस्व में दरारें पैदा होने लगेंगी और उसके पीछे रुका हुआ जन-असन्तोष का सैलाब उसे तहस-नहस कर देगा। यहाँ मैं ऐसे लोगों की नीयत पर बात नहीं कर रहा हूँ; मैं पहले ही बता आया हूँ कि नीयत के सवाल पर बहस ट्रेनों और बसों में लोग अपनी बोरियत दूर करने के लिए करते हैं। संजीदगी से बात की जाये तो किसी की भी राजनीति और विचारधारा पर बात की जा सकती है। यह एक सच है कि पूँजीवादी व्यवस्था अपनी नैसर्गिक गति से अपने विरोध को पैदा करती है। यही बात पूँजीवादी व्यवस्था को सामन्ती और दास व्यवस्था से अलग करती

है। पूँजीवाद सहमति (कन्सेण्ट) लेकर राज करता है और इस सहमति का निर्माण चुनाव, मीडिया और सुधारवाद के ज़रिये पूँजीवाद स्वयं करता है। कोई भी व्यक्ति जो पूँजीवाद के ही मूल तर्क पर सवाल न खड़ा करते हुए केवल पूँजीवादी क़ानून द्वारा परिभाषित भ्रष्टाचार, यानी रिश्वतखोरी, कमीशनखोरी, या भाई-भतीजावाद पर सवाल खड़ा करता है तो वह जाने या अनजाने पूँजीवादी व्यवस्था के वर्चस्व को ही और गहरा और व्यापक बनाने वाली मशीनरी का एक अंग होता है, चाहे वह माननीय अण्णा हज़ारे ही क्यों न हों।

अब तक की बात का संक्षेप में समाहार कर लेते हैं। पहली बात यह है कि पूँजीवाद अपने आप में भ्रष्टाचार है। दूसरी बात यह कि यदि अपने बनाये नियमों और क़ानूनों के तहत काम करे तो भी (जो कि असम्भव है) पूँजीवादी व्यवस्था बहुसंख्यक मेहनतकश जनता की लूट के बूते चलती है। तीसरी बात, पूँजीवादी व्यवस्था और समाज का मूल तर्क और प्रेरक शक्ति निजी मुनाफ़ा, लालच, लूट और लोभ होता है। ऐसी कोई पूँजीवादी व्यवस्था न तो आज तक हुई है और न होगी, जिसमें पूँजीवादी लूट, शोषण और उत्पीड़न उसके द्वारा ही बनाये गये नियमों और क़ानूनों की सीमा के भीतर रहे। मुनाफ़े की हवस कोई नियम और सीमा नहीं देखती। पूँजी का आन्तरिक तर्क कभी पूँजीपतियों को संयमी नहीं बनने देता। वह तबाह हो जायेगा, ख़त्म हो जायेगा अगर संयमी बनेगा। चौथी बात, लोभ, लालच और मुनाफ़े का यह पूरा तर्क समाज के निचले हिस्सों में भी प्रवाहित होता है और पूरी की पूरी नौकरशाही, सत्ता वर्ग, और मध्यवर्ग के सभी संस्तरों तक के मनोविज्ञान में पैठ जाता है। इसके अलावा, किसी और चीज़ की उम्मीद करना व्यर्थ है। कुछ लोग चन्देक ईमानदार नौकरशाहों आदि का उदाहरण दे सकते हैं, जो आज के युग में बाण्टेग (जंगली बैल की एक दुर्लभ प्रजाति) के समान हैं! यह भी बहस करने योग्य या जवाब देने योग्य बात नहीं है। अपवादों पर बहस नहीं होती और अपवाद नियम को ही पुष्ट करते हैं। यह सामान्य रुझान नहीं है, और न ही हो सकता है। पाँचवीं बात, जब भी पूँजीवादी क़ानूनी परिभाषा वाला भ्रष्टाचार हद पार कर जाता है तो व्यवस्था अपने आन्तरिक नैसर्गिक तर्क से सहज तरीक़े से कोई अण्णा हज़ारे, मूपनार, खैरनार, शोषण, किरण बेदी या केजरीवाल पैदा करती है। इनकी नीयत कुछ भी हो यह व्यवस्था की पाचन-शक्ति बढ़ाने का काम करते हैं। 'सरकारी सन्त' विनोबा भावे, 'सम्पूर्ण क्रान्तिधर्मा' जयप्रकाश नारायण, 'पर्यावरण योद्धा' सुनीता नारायण और राजेन्द्र पचौरी और इस तरह के तमाम लोग यही करते

आये हैं और ऐसे तमाम लोग यही करेंगे।

अब आगे बढ़ते हैं। क्या अण्णा हज़ारे का “आन्दोलन” पूँजीवादी क़ानून द्वारा परिभाषित प्रत्यक्ष भ्रष्टाचार पर भी कोई असर डाल सकता है? अण्णा हज़ारे का जन लोकपाल बिल क्या है? जन लोकपाल को चुनने वाले कौन होंगे? प्रस्तावित जन लोकपाल की शक्तियाँ क्या होंगी? अण्णा हज़ारे के “आन्दोलन” का वर्ग चरित्र और सामाजिक आधार क्या है?

प्रस्तावित जन लोकपाल बिल, अण्णा हज़ारे का भ्रष्टाचार-विरोधी “आन्दोलन”, उसका वर्ग चरित्र और सामाजिक आधार : क्या दूर होगा इनसे भ्रष्टाचार?

चलिये अभी पूँजीवाद के सवाल को थोड़ी देर के लिए छोड़ देते हैं, क्योंकि कुछ आवाज़ें मुझे सुनायी दे रही हैं जो कह रही हैं कि ‘आप लोग तो हर चीज़ में ही पूँजीवाद को लेते आते हैं! अब अण्णा रिश्वतखोरी, कमीशनखोरी आदि के रूप में सीधे तौर पर हो रहे भ्रष्टाचार के खिलाफ़ आन्दोलन चला रहे हैं तो इसमें भी आपको दिक्कत है!’ मैं इस प्रतीकात्मक किन्तु वास्तविक आवाज़ का जवाब इस रूप में देकर आगे बढ़ना चाहूँगा : ‘हम पूँजीवाद को नहीं लाते, वह पहले से वहाँ बुनियादी कारण के तौर पर मौजूद है! बस देखने और न देखने का सवाल है। अण्णा के आन्दोलन से हमें कोई दिक्कत नहीं। हम बस इसका एक तार्किक विश्लेषण कर रहे हैं। अब इस विश्लेषण के नतीजे हमारी और आपकी इच्छा से स्वतन्त्र हैं! क्या करें?’ अब इस सवाल पर भी आ जाते हैं कि क्या अण्णा के आन्दोलन से भ्रष्टाचार और भ्रष्टाचारियों की सेहत पर कुछ विशेष प्रभाव पड़ने वाला है?

अण्णा हज़ारे का आन्दोलन किस तरह से शुरू हुआ – यह हम पहले ही देख आये हैं। इस आन्दोलन में मीडिया ने क्या-क्या नौटंकियाँ कीं – यह भी देख आये हैं। जन्तर-मन्तर पर जो भीड़ जुटी थी, उसके बारे में भी कुछ मोटे ऑब्ज़र्वेशन हमने रखे थे। मंच सज्जा से छनकर आती अण्णा हज़ारे की सोच पर हमने कुछ शब्द कहे थे, लेकिन उस पर हम आगे विस्तार में भी जायेंगे। फ़िलहाल, अण्णा हज़ारे के प्रस्तावित जन लोकपाल बिल के बारे में कुछ विचार।

अण्णा हज़ारे और उनकी “सिविल सोसायटी” मण्डली ने जो जन लोकपाल बिल का मसौदा तैयार किया है, स्वीकार कर लिये जाने पर वह राजसत्ता की सबसे शक्तिशाली संस्थाओं में से एक को जन्म देगा। जन

लोकपाल के पास विधानपालिका, कार्यपालिका और एक हद तक न्यायपालिका की भी शक्तियाँ होंगी (जिस हद तक न्यायपालिका जाँच निकाय का भी काम करती है)। वह एक पुलिस अधिकारी के समान होगा, एक जाँच अधिकारी के समान होगा, जो भ्रष्टाचार-विरोधी क़ानून 1988 या किसी भी अन्य क़ानून के तहत भ्रष्टाचार के मामलों की जाँच कर सकता है। इसकी जाँच के दायरे में प्रधानमन्त्री से लेकर मुख्य न्यायाधीश तक, सभी आते हैं। अब देखें कि इसे नियुक्त कौन करता है।

हज़ारे और उनकी मण्डली ने जन लोकपाल के लिए जो नियुक्ति प्रणाली सुझायी है, वह निराली है। जन लोकपाल को नियुक्त करने के लिए एक कॉलेजियम होगा जिसमें भारतीय मूल के नोबेल पुरस्कार विजेता, मैगसेसे पुरस्कार विजेता, भारत रत्न विजेता, सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के वरिष्ठ न्यायाधीश, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का अध्यक्ष, लोकसभा और राज्यसभा के अध्यक्ष, और निवर्तमान लोकपाल समिति के सदस्य होंगे। यानी कि कॉलेजियम में लोकसभा अध्यक्ष के अतिरिक्त एक भी चुना हुआ व्यक्ति नहीं होगा। जन लोकपाल को नियुक्त करने वाले लोगों पर बुर्जुआ चुनाव के ज़रिये भी कोई नियन्त्रण या जवाबदेही नहीं होगी। इसके अलावा, वह कौन-सी चीज़ है जो भारतीय मूल के किसी नोबेल पुरस्कार विजेता, भारत रत्न विजेता या मैगसेसे पुरस्कार विजेता को भ्रष्टाचार उन्मूलन के लिए जवाबदेह राज्य अधिकारी की नियुक्ति की समिति में होने के योग्य बनाती है? कल्पना करें कि वी.एस. नॉयपॉल उस समिति में है, जोकि अपने प्रतिक्रियावादी विचारों की लिए कुख्यात हैं; और अन्य भारतीय मूल के नोबेल पुरस्कार विजेता क्या करेंगे इस समिति में? क्या उन्हें भ्रष्टाचार के उन रूपों के बारे में पता है जो हमारे देश में मौजूद हैं? क्या वे इस देश में इस पर लगाम लगाने की योग्यता रखने वाले व्यक्ति/यों के बारे में कुछ जानते हैं? या फिर भारत रत्न विजेता इसमें क्या करेंगे? मिसाल के तौर पर लता मंगेशकर क्या करेंगी ऐसी किसी समिति में? या कल को सचिन तेन्दुलकर को अगर भारत रत्न मिल जाता है तो वे भी इस समिति में होने की अर्हता को पूरा कर लेंगे! इसके अलावा जो भी लोग इस कॉलेजियम में होने के लिए प्रस्तावित हैं, वे इस दिल्ली के लोधी गार्डन में सुबह घूमने वाले कुलीन वर्ग के सदस्य हैं। विशेषाधिकार प्राप्त एक छोटा से अल्पशासक वर्ग इस कॉलेजियम में निर्णायक भूमिका में होगा। इसमें जनता कहीं भी नहीं है। यह ज्ञानी लोगों की एक परिषद होगी जो आगे भारत के पूँजीवादी जनतन्त्र में एक अहम निर्णायक भूमिका में होगी। यह ज्ञानी परिषद कुछ वैसी ही होगी जैसे कि ईरान में विलायत-ए-फ़कीह है, यानी, संरक्षक

परिषद (गार्डियंस काउंसिल)! जिन लोगों ने यह मसौदा पढ़ा है उनमें से इसका समर्थन वही लोग कर रहे हैं जो सन्नी देयोल की फ़िल्में काफ़ी पसन्द करते हैं, जिसमें भ्रष्टाचारियों और अपराधियों से 'ऑन दि स्पॉट, इंस्टैण्ट' न्याय कर देने वाला एक नायक होता है। इस आन्दोलन का सामाजिक आधार भी उन्हीं वर्गों में है जो किसी प्रभावी क्रान्तिकारी हस्तक्षेप की अनुपस्थिति या अभाव में फ़ासीवादी सर्वसत्तावाद और गैरजनवाद की ओर रुख़ करता है। अभी हम इस बात पर चर्चा नहीं कर रहे हैं कि भारतीय शासक वर्ग भी ऐसी कोई व्यवस्था स्वीकार नहीं करने जा रहा है। अभी हम सिर्फ़ इस बात पर चर्चा कर रहे हैं कि हज़ारे और उनकी मण्डली का प्रस्ताव क्या है, और अगर वह लागू होता है, तो क्या वह भ्रष्टाचार की सेहत पर कोई असर डालेगा।

स्पष्ट है कि जन लोकपाल के पास इतनी शक्तियाँ होने के बावजूद उसकी नियुक्ति में जनता या जनता की राय का कोई स्थान नहीं होगा। अण्णा हज़ारे की सोच भी यही है। जनता की राय को वह कुछ नहीं समझते। उनके अनुसार चुनाव के सिद्धान्त का ही कोई असर नहीं है और जनता बेवकूफ़ होती है! हज़ारे ने जन्तर-मन्तर पर स्पष्ट शब्दों में कहा कि इस देश में वोटर 100 रुपये, साड़ी या टीवी की खातिर बिक जाता है। वह जनवाद के काबिल ही नहीं है। यानी, ऐसे में, जनता को संरक्षक, नायक और विजिलाण्टे (निगरानी करने वाला) चाहिए, जो ज्ञानी और नैतिकतावादी हो! बैटमैन या सुपरमैन जैसी कोई चीज़। 'लीग ऑफ़ डिफ़ेण्डर्स' जैसी कोई परिषद! यह एक ख़ास सोच है, जिस पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे, जब हम अण्णा हज़ारे की पूरी सोच पर विचार करेंगे। जन लोकपाल की जो प्रस्तावित संस्था है वह क़तई जनतान्त्रिक नहीं है।

इससे यह भ्रम न पैदा हो कि हम पूँजीवादी जनतन्त्र के हामी या समर्थक हैं। निश्चित तौर पर, नहीं! हम मानते हैं कि हम पूँजीवादी जनतन्त्र से बेहतर, न्यायसंगत और समानतामूलक व्यवस्था बना सकते हैं। लेकिन, पूँजीवादी जनतन्त्र का समर्थक न होने का अर्थ यह नहीं है कि हम तानाशाही, प्रबुद्ध निरंकुशतावादी शासन या पूँजीवादी सर्वसत्तावाद की तरफ़ जाना चाहते हैं। अण्णा हज़ारे का जन लोकपाल यही करेगा, अगर वह सच में बनता है तो! यह एक ऐसी संस्था होगी जिसके नियुक्ति, निर्माण से लेकर कार्य तक में जनता की कोई दख़ल नहीं होगी। यह पूरी तरह से ज्ञानी लोगों के गिरोह का काम होगा! यह शक्ति को और ज़्यादा संकेन्द्रित करेगा और पूँजीवादी शासन को और ज़्यादा निरंकुश बनायेगा। हमें बर्बर अनियमबद्ध पूँजीवादी लम्पटों की अनाधिकारिक निरंकुशता की जगह ज्ञानी प्रबुद्ध संरक्षणकारी आधिकारिक

नियमबद्ध पूँजीवादी निरंकुशता नहीं चाहिए! हालाँकि, यह नियमबद्ध और प्रबुद्ध होने का वायदा कभी अमल में नहीं आ सकता। बस फ़र्क यह आयेगा कि अपने ज्ञानी और नैतिक होने के दावे के तहत पूँजीवादी राजसत्ता और ज़्यादा वर्चस्वकारी और निरंकुश हो जायेगी, जो जनता के प्रश्नों के दायरे से और ज़्यादा दूर होगी। जन लोकपाल जो सर्वश्रेष्ठ नतीजा दे सकता है, वह यही है। इसके अन्य कारणों पर भी एक निगाह डालते हैं।

एक ऐसे समाज में जिसमें पैसे की ताक़त सबसे बड़ी ताक़त है, जिसमें लालच, लोभ और मुनाफ़े का ही राज हो, वहाँ जन लोकपाल की अभ्रष्टीयता पर ऐसा दिव्य विश्वास क्यों? जन लोकपाल को नहीं ख़रीदा जा सकता, वह भ्रष्ट नहीं होगा, वह लालच-लोभ के वशीभूत नहीं होगा, या कारपोरेट घरानों की ताक़त के आगे घुटने नहीं टेक देगा, इसकी क्या गारण्टी है? जब ऐसे जन लोकपाल को नियुक्त करने वाली समिति के प्रस्तावित सदस्य तक आज बिक रहे हैं, तो जन लोकपाल क्यों नहीं बिक सकता? सन्दर्भ आप समझ गये होंगे। न्यायपालिका में पोर-पोर तक में समाये भ्रष्टाचार के बारे में आज सभी जानते हैं। और यह ज़िला मजिस्ट्रेट के स्तर से लेकर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तक में मौजूद है। एक पूँजीवादी समाज में जहाँ भौतिक प्रोत्साहन ही सबसे बड़ा प्रोत्साहन है, वहाँ हर चीज़ बिक सकती है। ऐसे में, जन लोकपाल के रूप में एक भस्मासुर ही पैदा होगा और कुछ नहीं। कुल मिलाकर, शासक वर्ग और उसके चाकर भ्रष्टाचार करने में और अधिक निपुण हो जायेंगे, उन पर कोई भी नियन्त्रण नहीं होगा। अब यह एक दीगर बात है कि भारत का पूँजीपति वर्ग ऐसा जन लोकपाल नहीं बनाने जा रहा है क्योंकि वह ऐसी संस्था की कोई ज़रूरत नहीं महसूस करता है। लोकपाल निश्चित रूप से बनेगा लेकिन वैसा नहीं जैसा हज़ारे और उनकी मण्डली चाहती है। और वे भी इस पर मानेंगे और समझौते करेंगे। मेरे ख़याल से हज़ारे को भी जन लोकपाल बिल पर विचार करने वाली समिति के विचार-विमर्श सत्रों में समझ आ जायेगा कि ऐसा लोकपाल कितने भी भारी-भरकम नैतिक दावे के साथ एण्ट्री मारे, लम्बी दूरी में वह सत्ता को अधिक निरंकुश और दमनकारी बनायेगा और ऐसे में प्रतिरोध की सम्भावनाएँ भी ज़्यादा होंगी। लोकपाल की संस्था का लक्ष्य कुल मिलाकर जनता के बीच पूँजीवाद के विभ्रमों को बढ़ाना और ज़िन्दा रखना है। और लोकपाल ऐसा ही बनाया जाना चाहिए जो इतना करे।

जन लोकपाल बिल का मसौदा तैयार करने वालों में से एक प्रसिद्ध वकील प्रशान्त भूषण ने एक पत्रिका को दिये साक्षात्कार में कहा है कि जन लोकपाल बन भी गया तो यह भ्रष्टाचार की समस्या का निदान नहीं है। यह

भ्रष्टाचार के सिर्फ़ माँग-पक्ष पर केन्द्रित है, आपूर्ति-पक्ष के बारे में यह कुछ भी नहीं करता। यानी, जो ताक़तें भ्रष्टाचार करवाती हैं उन पर यह बिल कुछ भी नहीं कहता। प्रशान्त भूषण के अनुसार भ्रष्टाचार के मूल कारक हैं कारपोरेट पूँजीपति घराने और उनके पक्ष में बनायी जा रही नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण की नीतियाँ। स्पष्ट है कि अगर आप सिर्फ़ एक पक्ष पर केन्द्रित करेंगे, तो दूसरा पक्ष आपको उस पर भी कोई क़दम उठाने नहीं देगा। मिसाल के तौर पर, अगर कोई कारपोरेट घराना भ्रष्टाचार में लिप्त सरकारी नौकरशाहों और नेताओं को घूस देकर अपना काम करवा रहा है और इस काम में कोई बाधा पैदा होती है, तो वह कारपोरेट उस बाधा को दूर करने के लिए किसी भी हद तक जा सकता है, और जाता ही है। अब प्रशान्त भूषण से यह उम्मीद करना काफ़ी ज़्यादा हो जायेगा कि वे इस समस्या के अन्तिम समाधान के तौर पर पूँजीपति वर्ग की सत्ता के खिलाफ़ मेहनतकशों के इन्क़लाब की बात करने लगे। प्रशान्त भूषण इन तमाम सच्चाइयों के बयान के साथ उस “सिविल सोसायटी” का ही अंग हैं, जिसका काम है पूँजीवाद को अधिक से अधिक “सिविल” (सभ्य) दिखलाना।

इस बिल को लेकर जो प्रतिरोध का भारी-भरकम कौतुक स्वाँग आयोजित किया गया उसका मक़सद भी यही था। यूँ ही कारपोरेट मीडिया पागल नहीं हुआ जा रहा था; यूँ ही संप्रग सरकार ने इस अण्णा की आँधी पर ‘संवेदनशील प्रतिक्रिया’ तत्काल नहीं दे दी। इन सबके तात्कालिक, दूरगामी और वैविध्यपूर्ण राजनीतिक कारण थे।

आम ग़रीब जनता में इस अण्णा की आँधी का कोई ख़ास असर नहीं था। एक बहुत छोटा-सा वर्ग इस “आन्दोलन” पर ज़्यादा “आन्दोलित” था। इस आन्दोलन में कौन-कौन से लोग शामिल थे? इस आन्दोलन के समर्थन में कुछ शहरों में खाता-पीता, पढ़ा-लिखा शहरी मध्यवर्ग सड़कों पर उतरा। इनमें से अधिकांश लोग न तो सरकार के प्रस्तावित लोकपाल बिल के बारे में जानते थे और न ही अण्णा हज़ारे की मण्डली द्वारा प्रस्तावित जन लोकपाल बिल के बारे में। मज़ेदार बात तो यह है कि इस वर्ग के ही तमाम लोग इस समय बेक़ाबू भ्रष्टाचार के लाभप्राप्तकर्ता हैं! लेकिन अपना भ्रष्टाचार उन्हें कभी याद नहीं रहता है और वे भी बाबा रामदेव द्वारा विदेशी पैसा वापस लाने, हज़ारे द्वारा लोकपाल बनवाने, आदि की बात सुनते हैं तो “देशभक्ति” रस के स्राव से गीले हो जाते हैं! वास्तव में, इस रस के स्राव के लिए इस वर्ग के शरीर में एक ग्रन्थि होती है, जो हर ऐसे आवाहन पर

स्राव करती रहती है! यह इस वर्ग के अपराध-बोध निवारण प्रणाली का एक अंग होती है। यह वर्ग शासक वर्गों के साथ नाभिनालबद्ध होता है, उनकी चाकरी करता है, और इसके लिए मुनाफ़े की लूट में अपना लाभांश प्राप्त करता है। जब उसकी आमदनी का स्रोत ही पूँजीवादी लूट से प्राप्त होने वाला लाभांश है, तो भला वह पूँजीवादी लूट पर सवाल कैसे उठाये? ऐसे में भ्रष्टाचार को मूल और एकमात्र समस्या के तौर पर पेश करना और ऐसा दिखलाना कि भ्रष्टाचार दूर हो जाये और हमारा देश फिर से (?!) 'सोने की चिड़िया' (??!!) बन जायेगा, इस वर्ग के लिए राहतकारी और सुविधाजनक है। यह एक प्रकार का 'गिल्ट-किलर' है। यही कारण है कि पढ़े-लिखे खाते-पीते शहरी मध्यवर्ग के लिए भ्रष्टाचार सबसे बड़ा मुद्दा होता है। यही वह वर्ग था जो अण्णा हज़ारे के अनशन की मंचित विजय पर कारों और बाइकों पर 'रंग दे बसन्ती', 'लगान' और 'स्वदेस' फ़िल्म के गाने बजाता और सिर पर 'मैं अण्णा हूँ' की टोपी लगाये लम्पटई कर रहा था!

जो कुलीन वर्ग इस आन्दोलन के समर्थन में था, वास्तव में वह स्वयं भ्रष्टाचार का लाभप्राप्तकर्ता है और इस आन्दोलन के समर्थन द्वारा वह अपने आपको अपराध-मुक्त करने का प्रयास कर रहा है।

दूसरा वर्ग जो अण्णा हज़ारे के समर्थन में आया वह पूँजीवाद के उदय के समय से ही समाज में अपनी स्थिति और अपनी वर्ग चेतना के अनुसार त्रिशंकु के समान अधर में उल्टा लटका हुआ है। यह वर्ग है भारत का निम्न मध्यवर्ग। यह वर्ग स्वयं छोटे पैमाने पर होने वाले भ्रष्टाचार का भुक्तभोगी है। यह खुद तंगी और सतत आर्थिक और सामाजिक असुरक्षा में जीता है। लेकिन इसकी जीवन स्थितियाँ इस क़दर दरमियानी होती हैं कि वह अपने आपको मजदूर वर्ग के साथ भी नहीं पाता। वह बरबाद भी पूरी तरह से नहीं होता और आबाद भी पूरी तरह नहीं होता। उसके सिर पर बरबादी की एक तलवार लगातार लटकी रहती है। उसके सपने और आकांक्षाएँ उच्च वर्ग और उच्च मध्यवर्ग से जुड़े होते हैं। यह वर्ग भी अण्णा हज़ारे के भ्रष्टाचार-विरोधी "आन्दोलन" पर काफ़ी आन्दोलित था। वास्तव में, अण्णा हज़ारे आन्दोलन किसी भी रूप में इस वर्ग के हितों की नुमाइन्दगी नहीं करता, लेकिन इस वर्ग की भावना उसके पक्ष में होती है। इसका कारण यह है कि इस वर्ग की ख़ासियत जो इसे अन्य वर्गों से अलग करती है, वह है इसका अपने हितों के प्रति ही अचेत होना। हर राजनीतिक मौक़े पर इस वर्ग द्वारा अपनायी गयी अवस्थिति इसकी कूपमण्डूकता और राजनीतिक तौर पर अचेत अवस्था को प्रदर्शित करती है। यह वर्ग अपने दुःखों-तक़लीफ़ों के लिए तमाम

बाबाओं और सन्तों की शरण में घूमता रहता है। बेटे की नौकरी और शादी, बेटे के लिए उचित वर और अपने पेट की बीमारी के उपचार तक के लिए यह बालाजी, शिरडी और पुट्टुपार्थी तक शीश नवा आता है। इसके भीतर आध्यात्मिकता और पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्ति कूट-कूटकर भरी होती है। यह किसी मसीहा के इन्तज़ार में रहता है। अण्णा हज़ारे और बाबा रामदेव जैसे लोगों द्वारा आध्यात्मिकता और पुनरुत्थानवाद की ज़मीन पर खड़े होकर किये गये राष्ट्र-निर्माण और भ्रष्टाचार-उन्मूलन के आवाहन इसको बहुत अपील करते हैं।

कुलीन उच्च वर्ग, शहरी खाते-पीते मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग के अलावा कोई भी वर्ग अण्णा की आँधी से रत्ती भर भी प्रभावित नहीं हुआ। कारण स्पष्ट है। स्वयं अण्णा हज़ारे भी मज़दूर वर्ग, गरीब किसान वर्ग और आम मेहनतकश आबादी की तकलीफों से प्रभावित नहीं हैं या उससे कोई गहरा सरोकार नहीं रखते हैं। आम मेहनतकश जनता के प्रति अण्णा ने अपनी राय जन्त-मन्तर पर दे दी थी। उन्होंने कहा था कि यहाँ की जनता अपने वोट की अहमियत को नहीं समझती। जो लोग सौ रुपये, एक दारू की बोतल या साड़ी के लिए अपना वोट बेच सकते हैं, वे लोकतन्त्र के अधिकारी नहीं हैं। जनवादी संस्थाओं और प्रणाली के प्रति अण्णा हज़ारे के मन में गहरी अनास्था और घृणा है। यह एक वर्ग-विशेष की विचारधारा और राजनीति को अभिव्यक्त करता है जिसके बारे में हम अण्णा हज़ारे के इतिहास, विचारधारा और राजनीति पर विस्तार से चर्चा करते समय विचार करेंगे। लेकिन इतनी बात स्पष्ट है कि अण्णा हज़ारे के आन्दोलन का चरित्र कुलीन मध्यवर्गीय या टुटपूँजिया था और इसके सामाजिक आधार के तौर पर भी मध्यवर्ग के ही अलग-अलग संस्तर मौजूद थे। इसे आप हर कोण से निगमित कर सकते हैं। सरकारी प्रतिक्रिया से लेकर मीडिया की प्रतिक्रिया तक। इस पूरे आन्दोलन में आन्दोलन कहलाने योग्य कुछ भी नहीं था। यह टुटपूँजिया वर्ग के एक छोटे-से हिस्से की अनुत्पादक आध्यात्मिक खलबली थी, जिसे खलबली भी मीडिया ने बनाया। और मीडिया के ऐसा करने के पीछे व्यापक राजनीतिक और सामाजिक तात्कालिक चिन्ताएँ मौजूद थीं, जिन पर हम चर्चा कर आये हैं। हर टुटपूँजिया खलबली के समान इस टुटपूँजिया खलबली ने भी तरह-तरह का शोर (“नयी क्रान्ति”, “नयी आज़ादी की लड़ाई”, “अण्णा की आँधी”, “अण्णा आज का गाँधी”, वगैरह) मचाकर अन्त में शासक वर्गों की सेवा ही की है, उसके वर्चस्व को मज़बूत बनाया है, पूँजीवादी जनतन्त्र के विभ्रमों को मज़बूत किया है। इसमें रैडिकल, जनपक्षधर या क्रान्तिकारी कुछ भी नहीं है।

इससे पहले कि हम अण्णा हज़ारे की “परिघटना” के विचारधारात्मक और राजनीतिक पहलुओं पर विचार करने के लिए आगे बढ़ें, पहले इस “सिविल सोसायटी” के ढोल की भी पोल खोल दी जाये, तो उपयोगी होगा। “सिविल सोसायटी” का हिन्दी अनुवाद “सभ्य समाज” या “नागरिक समाज” किया गया है। मैं बहुत ही पाठवादी अप्रोच से इसे आपके सामने रखने की कोशिश करता हूँ! जब भी “समाज” के पीछे आप ऐसा कोई विशेषण लगाते हैं तो उसके क्या निहितार्थ होते हैं? इसका अर्थ होता है कि आप एक विशिष्ट समाज की बात कर रहे हैं, पूरे समाज की नहीं। मिसाल के तौर पर, अगर एक नागरिक समाज है, तो कोई ऐसा समाज है जो अनागरिक है; जिसके बाशिन्दे नागरिक होने की शर्तों को पूरा नहीं करते। या जब आप “सभ्य समाज” की बात करते हैं तो इसमें अन्तर्निहित होता है कि एक ऐसा समाज भी है जो असभ्य है, या जिसमें पर्याप्त सभ्य लोग नहीं बसते। अन्यथा, आप सिर्फ समाज या मानव समाज की बात करते। मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध ‘ग्यारह थीसिज़’ में लिखा था कि वह “सिविल सोसायटी” की बात नहीं करते, क्योंकि यह वास्तव में एक वर्ग विभाजित समाज है। बुर्जुआ समाज पूँजीवादी सिविल सोसायटी होता है, जिसमें सभ्य होने का पैमाना सम्पत्ति और उसके बूते अर्जित संस्कृति, शिक्षा और ज्ञान होता है। सामन्ती समाज में सभ्यता या नागरिकता की वैसी अवधारणा नहीं थी, लेकिन उस समय यदि कोई ऐसा जुमला (रेटरिक) होता तो उसके दायरे में उस समाज के कुलीन आते। आज भी “सिविल सोसायटी” का मतलब अर्थ, राजनीति और सामाजिक पहचान के आधार पर कुलीन माने जाने वाले लोगों का जमावड़ा है। किसी भी “सिविल सोसायटी” के सन्दर्भ पर निगाह डालिये और आपको यह बात स्वयं स्पष्ट हो जायेगी। इस “सभ्य समाज” के दायरे में इस देश के 80 फीसदी से भी ज़्यादा लोग नहीं आते हैं। यही कारण है कि अण्णा हज़ारे और उनकी मण्डली के जमावड़े से मेहनतकश अनुपस्थित है। यही कारण है कि यह मेहनतकश हज़ारे और उनकी मण्डली के जमावड़े के लिए अदृश्य है। उनकी निगाह में तो एक भ्रष्टाचार-मुक्त उच्च नैतिक राष्ट्र है, जो यूटोपियाई है और अपने कोर से ही पुनरुत्थानवादी, एक हद तक फ़ासीवादी, सर्वसत्तावादी, ग़ैरजनवादी और पूँजीवादी है। यह मजदूर वर्ग-विरोधी है, जनविरोधी है और बुर्जुआ राष्ट्रवाद की सबसे सड़ी हुई प्रजाति है : पुनरुत्थानवादी प्रजाति। अन्त में कहना होगा कि इस “सिविल सोसायटी” में ‘सिविल’ उतना ही है, जितना कि “सिविल वॉर” में होता है! इस “सभ्य समाज” में सभ्यता की उपस्थिति और मात्रा उतनी है, जितनी कि पूँजीवादी जनतन्त्र में ‘जन’ की होती है। यह एक बहुत

बड़ा प्रहसन है जिसे हर जनपक्षधर क्रान्तिकारी नौजवान, छात्र, बुद्धिजीवी को और साथ ही मजदूर वर्ग को भी समझना होगा।



अब तक हमने अण्णा हज़ारे के भ्रष्टाचार-विरोधी धर्म-युद्ध के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया। हमने अण्णा हज़ारे मण्डली के जनलोकपाल बिल के मसौदे का आलोचनात्मक विवेचन किया; अण्णा हज़ारे के अभियान के पक्ष में जो आबादी सड़कों पर उतरी हमने उसका भी विश्लेषण करते हुए इसके सामाजिक आधार को स्पष्ट किया; हमने भ्रष्टाचार की एक सटीक परिभाषा पर विचार करते हुए स्पष्ट किया कि वास्तव में पूँजीवादी व्यवस्था अपने आप में ही एक भ्रष्टाचार है, तब भी, जब वह अपने बनाये सभी नियमों का पालन करे; और हमने यह भी स्पष्ट किया कि कोई भी पूँजीवादी व्यवस्था लूट के अपने बनाये नियमों का भी सम्मान नहीं करती है क्योंकि पूँजी का तर्क किसी भी नियम समुच्चय की सीमाओं का अनिवार्य रूप में अतिक्रमण करता है; साथ ही, हमने 'सिविल सोसायटी' की 'सिविलिटी' की भी पोल खोली और इस अवधारणा के निहितार्थों को स्पष्ट करते हुए इसके बुर्जुआ चरित्र को साफ़ किया।

अब हम अण्णा हज़ारे की विचारधारा और राजनीति के विश्लेषण की ओर बढ़ सकते हैं। यह विश्लेषण किये बगैर वास्तव में अभी तक किया गया विश्लेषण भी अधूरा होगा। हमने अण्णा के भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान और जनलोकपाल बिल के अलग-अलग पहलुओं की चर्चा की और साथ ही इसके सामाजिक आधार का विवेचन किया। लेकिन अण्णा हज़ारे का अभियान वैसा क्यों है जैसा कि वह है, यह समझने के लिए निगमनात्मक विश्लेषण पर्याप्त नहीं होगा और हमें सकारात्मक तौर पर अण्णा हज़ारे की पूरी सोच का आगमनात्मक विश्लेषण करना होगा। अण्णा की विचारधारा और राजनीति के विश्लेषण से उन सभी अलग-अलग विश्लेषणों के बीच के तार खुद-ब-खुद जुड़ जायेंगे जो हमने अभी तक किये हैं। इसलिए अब जो अहम सवाल हमारे सामने है, वह यह है कि अण्णा का भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान ऐसा क्यों है जैसा कि वह है?

इस सवाल का जवाब हमें अण्णा हज़ारे के इतिहास, राजनीति और विचारधारा के विश्लेषण में मिलेगा।

जीवन और इतिहास

अण्णा हज़ारे का जन्म 1937 में भिंगार नामक एक छोटे-से गाँव में हुआ, जो कि अहमदनगर ज़िला में था। 1952 में अण्णा हज़ारे के पिता ने भिंगार में अपनी नौकरी छोड़ अपने पैतृक गाँव रालेगण सिद्धी में लौटने का फैसला किया। अण्णा हज़ारे के छह भाई-बहन थे और परिवार की स्थिति बहुत खराब थी। उनकी एक रिश्तेदार ने उन्हें गोद लेने का प्रस्ताव रखा और वे अण्णा हज़ारे को मुम्बई ले आयीं। वहाँ अण्णा हज़ारे ने सातवीं कक्षा तक पढ़ाई की और फिर दादर में फूल बेचने का धन्धा शुरू किया। 1962 में भारत-चीन युद्ध शुरू हुआ और बड़े पैमाने पर सेना में भर्ती शुरू हुई। शारीरिक परीक्षा में असफल होने के बावजूद अण्णा हज़ारे को सेना ने भर्ती कर लिया और उसमें ट्रक चालक की नौकरी मिली। 1965 में अण्णा हज़ारे की तैनाती खेमकरन सेक्टर में हुई। उसी वर्ष पाकिस्तान ने भारतीय सैन्य अड्डों पर हवाई हमला शुरू कर दिया। अण्णा हज़ारे के अड्डे पर भी हमला हुआ और अण्णा को छोड़कर बाकी सभी सैनिक मारे गये। स्वयं अण्णा की जान भी मुश्किल से बची थी और एक गोली उनके सिर के बिल्कुल करीब से गयी थी। इसका अण्णा के दिलो-दिमाग पर काफी गहरा असर पड़ा था। इस घटना ने पाकिस्तान के खिलाफ अण्णा के मन में नफरत पैदा करने का काम किया।

लेकिन इस घटना के बाद ही अण्णा हज़ारे जीवन-मृत्यु के बारे में दार्शनिक-आध्यात्मिक चिन्तन-मनन भी करने लगे। उन्होंने घर वापस लौटते समय विवेकानन्द की राष्ट्र-निर्माण के लिए युवाओं को आह्वान करने वाली एक पुस्तिका पढ़ी। इसमें अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ने के लिए विवेकानन्द ने युवाओं में चरित्र-निर्माण आदि की बात करते हुए आध्यात्मिकता और भौतिकता के वेदान्ती मिश्रण को पेश किया है। इस पुस्तिका का अण्णा पर ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा। इसके बाद, 1970 के दशक के मध्य में भी एक दुर्घटना में वे मरते-मरते बचे। इसके बाद उन्होंने मानवता की सेवा करने का प्रण लिया। इस बीच वह विनोबा भावे, गाँधी और विवेकानन्द का अध्ययन करते रहे थे। 1975 में, जैसे ही वे पेंशन के योग्य हुए उन्होंने स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति ले ली।

इसके बाद ही रालेगण सिद्धी में उनका वह कार्य शुरू हुआ जिसके लिए वह पूरे देश और दुनिया भर में प्रसिद्ध हुए। रालेगण सिद्धी एक ऐसा गाँव था जहाँ भयानक भूख और गरीबी, सूखा, उपेक्षा और तबाह होती पारिस्थितिकी मौजूद थी। यहाँ पर अण्णा हज़ारे ने अपना काम शुरू किया और शराबखोरी

रोकने से लेकर वर्षा जल संचय, पर्यावरण-अनुकूल खेती, पशुपालन, शिक्षा आदि का विकास किया। निश्चित रूप से, यह काम प्रशंसनीय है। रालेगण सिद्धी अण्णा हज़ारे के पर्यावरणीय कार्यों और आर्थिक उपायों के चलते भूख, अकाल, सूखा आदि से काफ़ी हद तक उबर गया। अण्णा हज़ारे के आमरण अनशन के कारण रालेगण सिद्धी में महाराष्ट्र सरकार को निरन्तर बिजली की व्यवस्था करनी पड़ी। अण्णा हज़ारे ने गाँव के विकास के लिए वे तमाम कार्य किये जो कोई भी जनपक्षधर क्रान्तिकारी ताक़त करती और निश्चित तौर पर यह सराहनीय काम था, लेकिन आम तौर पर बात यहीं ख़त्म हो जाती है। जबकि बात को यहाँ से शुरू होना चाहिए।

इन सभी पर्यावरणीय और आर्थिक उन्नयन के कार्यों के साथ रालेगण सिद्धी में अण्णा हज़ारे ने राजनीतिक और सामाजिक प्राधिकार, सामाजिक संरचना, दलितों और महिलाओं के सामाजिक सुधार, आदि के क्षेत्र में जो मॉडल लागू किया वह एक धार्मिक पुनरुत्थानवादी, अन्धराष्ट्रवादी, जातिगत श्रेष्ठताबोध-ग्रस्त, जेण्डर श्रेष्ठताबोध-ग्रस्त और पश्चगामी मॉडल है। अगर हम अण्णा हज़ारे के रालेगण सिद्धी के प्रयोग में इस्तेमाल होने वाले तमाम प्रतीकों, चिह्नों और रूपकों का अध्ययन करें तो हम पायेंगे कि यह “राष्ट्र-निर्माण” का वही हिन्दू पुनरुत्थानवादी मॉडल है जिसके पुरोधा बंकिम चन्द्र थे और जिन्होंने अपनी रचना ‘आनन्दमठ’ में 18वीं शताब्दी के संन्यासी विद्रोह के चित्रण के ज़रिये हिन्दू पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद की नींव डाली थी; या, यह कमोबेश वैसा ही हिन्दू पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद है जिसकी नुमाइन्दगी महाराष्ट्र में तिलक करते थे। लेकिन इसकी सामाजिक और राजनीतिक भूमिका में एक गहरा अन्तर आ चुका है। औपनिवेशिक गुलामी के दौर में धार्मिक पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद की भी एक सकारात्मक भूमिका थी, क्योंकि उस ऐतिहासिक युग के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अन्तरविरोध भिन्न थे। यह बात न सिर्फ़ हिन्दू पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद के बारे में सच थी, बल्कि इस्लामिक पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद के लिए भी सही थी। कम ही लोग जानते हैं कि संन्यासी विद्रोह के दौरान ही मुसलमान फ़कीरों की भी बगावत चल रही थी। लेकिन इतिहास में इसका ज़िक्र कम ही जगह मिलता है। लुब्बेलुबाब यह कि विदेशी शक्ति द्वारा औपनिवेशीकरण के विरुद्ध राष्ट्रवाद के तमाम वैचारिक स्रोतों में से अधिकांश की कालात्मक स्थिति अतीत में होती है। इसके कुछ निश्चित ऐतिहासिक कारण होते हैं, जिन पर यहाँ विस्तार से चर्चा सम्भव नहीं है। कुल मिलाकर अभी इतना कहना काफ़ी होगा कि उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवाद के शक्ति ग्रहण करने के स्रोतों में से अधिकांश अतीत में अवस्थित होते हैं, चाहे वह

कितना भी आधुनिक राष्ट्रवाद क्यों न हो।

दूसरी बात यह कि उस समय का हिन्दू पुनरुत्थानवाद उदार धार्मिक सुधारवाद से प्रभावित था और सम्मिलनकारी प्रजाति का था; आज का हिन्दू पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद वास्तव में प्रतिक्रियावादी और जनविरोधी ही हो सकता है। यह बहिष्कारवादी है और इसके भीतर फ़ासीवाद की ओर एक नैसर्गिक रुझान है, चाहे वह कितनी भी उदार प्रजाति का धार्मिक पुनरुत्थानवाद क्यों न हो। ठीक उसी प्रकार जैसे कि 16वीं सदी के यूरोपीय धार्मिक सुधारवाद को अगर 21वीं सदी में अवस्थित कर दिया जाये, तो वह एक प्रतिक्रियावादी शक्ति बन जायेगी। किसी भी धार्मिक विचारधारा या पन्थवाद की भूमिका का गुण उसके ऐतिहासिक और सामाजिक सन्दर्भ से ही निर्धारित होता है। आज के भारत में इस हिन्दू पुनरुत्थानवाद और अन्धराष्ट्रवाद के कई शेड्स काम कर रहे हैं, जिनके आत्मगत और वस्तुगत प्रतिक्रियावाद की मात्रा, गुण और स्तर अलग-अलग हैं। हमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की हिन्दू अन्धराष्ट्रवादी विचारधारा (जिसकी अन्तर्वस्तु वास्तव में आधुनिक फ़ासीवादी विचारधारा है) से लेकर हिन्दू महासभा की विचारधारा (जो अपने पुरातन, कठोर, अनमनीय, बर्बर हिन्दूवाद पर पहले की तरह अडिग है) तक की बात कर सकते हैं; और हम इसके तमाम असंगठित उदार स्वरूपों की बात भी कर सकते हैं, जिसमें अण्णा हज़ारे भी शामिल हैं। आइये, रालेगण सिद्धी में हज़ारे के प्रयोग को बारीकियों में देखें।

रालेगण सिद्धी में अण्णा हज़ारे : विचारधारा और राजनीति

रालेगण सिद्धी में अण्णा हज़ारे के पूरे प्रयोग के विश्लेषण से उनकी राजनीति और विचारधारा काफ़ी हद तक साफ़ हो जाती है। हज़ारे इस चिन्तन को सुविचारित तरीके से किसी लिखित रूप में नहीं बाँध सकते, क्योंकि वह कोई चिन्तक या विचारक हैं ही नहीं। वह एक ज़मीनी सामाजिक कार्यकर्ता हैं, जिनके व्यवहार से उनकी वस्तुगत विचारधारा निकलकर आती है। और हम उनके ज़मीनी व्यवहार से ही उनकी पूरी सोच को निगमित कर उसका विश्लेषण कर सकते हैं।

रालेगण सिद्धी में अण्णा हज़ारे के कार्य का बुनियादी हिस्सा उनके विकास कार्य और पर्यावरणीय सुधार कार्य हैं। यह पूरा कार्य महाराष्ट्र की ऐतिहासिक और प्रभुत्वशाली राजनीतिक संस्कृति की निरन्तरता में है और पलटकर उसे मज़बूत बनाता है। धार्मिक पुनरुत्थानवाद के जो मूल्य महाराष्ट्र

की राजनीतिक संस्कृति का स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय से हिस्सा रहे हैं, वे मूल्य अण्णा हज़ारे के चिन्तन और व्यवहार में गहराई से जड़ जमाये हुए हैं। और अण्णा का राजनीतिक व्यवहार इसी विचारधारा को सींचने का काम करता है। यह राजनीतिक प्राधिकार और वर्चस्व का विशिष्ट मॉडल है जो जनता के भीतर मौजूद पश्चगामी प्रवृत्तियों का उपयोग करके, और किसी अन्य राजनीति प्राधिकार की अनुपस्थिति और जनता के स्वयं राजनीतिक तौर पर सचेत प्राधिकार का वस्तु-रूप बनने के अभाव में अपना प्राधिकार स्थापित करता है। इसका आधार एक अतीतग्रस्त ज़मीन पर खड़े होकर नैतिकतावादी आह्वान है। और आर्थिक और भौतिक तौर पर दरिद्र जनता नैतिक, आत्मगत और आध्यात्मिक तौर पर भी दरिद्र होती है, हीनता-बोध का शिकार होती है। ऐसी जनता को ऐसा हर आह्वान अपील करता है; वास्तव में, यह अपनी हीनता के विरुद्ध जनता की प्रतिक्रिया है।

यह नैतिकतावादी, धार्मिक पुनरुत्थानवादी और शुद्धतावादी आह्वान वास्तव में बल-प्रयोग और दण्ड के आस्था तन्त्र का अनुसरण करता है। अण्णा हज़ारे का स्पष्ट मानना है कि धार्मिक और नैतिक ज़मीन पर खड़े होकर जनता के भीतर बिठाया गया भय ही उनका उद्धार कर सकता है। इस पूरे काम के लिए एक मसीहा की ज़रूरत होती है जिसके प्राधिकार को कोई चुनौती नहीं दे सकता। जनता स्वयं राजनीतिक तौर पर सचेत होकर अपने स्वशासन के कार्य को स्वयं कभी अंजाम नहीं दे सकती। इसके लिए एक नैतिकतावादी नायक की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि रालेगण सिद्धी में अण्णा का वचन नियम-समान है और सभी गाँववासी उसका सम्मान करते हैं। अण्णा हज़ारे ने इस प्राधिकार के निर्माण के लिए दो काम किये हैं। एक तो यह कि उन्होंने अपने जीवन में त्याग, सादेपन और कठोरता को लागू किया। यह सत्य है कि वह एक मन्दिर को अपने कार्यालय के तौर पर इस्तेमाल करते हैं और स्वयं एक कुटिया जैसे निवास में रहते हैं। कई लोग इसी को अण्णा हज़ारे की राजनीति के सही होने के प्रमाण के तौर पर पेश करते हैं, जो कि मूर्खतापूर्ण है। सादा जीवन जीने वाला कोई व्यक्ति फ़ासीवादी विचारों का हो सकता है। सादा जीवन जीकर वह सामान्य सांसारिक जीवन जीने वाले लोगों को हीनताबोध से ग्रस्त कर अपने प्राधिकार को स्थापित करता है। यह एक बहुत सामान्य परिघटना है। यह भी राजनीतिक जीवन का एक सौन्दर्यीकरण है और वॉल्टर बेंजामिन के शब्दों में फ़ासीवादी राजनीति का एक अहम पहलू है। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा है अण्णा हज़ारे आधुनिक अर्थों में फ़ासीवादी हैं। लेकिन उनका फ़ासीवादी विनियोजन निश्चित रूप से हो सकता है (और हो भी रहा है),

क्योंकि उनमें धार्मिक पुनरुत्थानवादी अन्धराष्ट्रवाद और श्रेष्ठतावाद के तमाम तत्व मौजूद हैं। वास्तव में, हज़ारे द्वारा मोदी की प्रशंसा दिल से निकली प्रशंसा थी! बाद में हज़ारे के राजनीतिक रूप से अधिक सचेत सलाहकारों, जैसे कि केजरीवाल, भूषण पिता-पुत्र आदि ने उन्हें समझाया कि इसके क्या परिणाम हो सकते हैं, तब जाकर अण्णा हज़ारे ने अपने बयान पर सफ़ाई दी। लेकिन यह मानना होगा कि प्रशंसा स्वतःस्फूर्त थी, लेकिन सफ़ाई नहीं! इसका कारण भी अण्णा हज़ारे की हिन्दू पुनरुत्थानवादी विचारधारा में है।

अण्णा हज़ारे हिन्दू धर्म के प्रतीकों, कठोर नियमों और संहिताओं, अति – और अन्ध-राष्ट्रवाद के आवाहन, शुद्धतावादी नैतिकतावाद, जातिगत पदानुक्रम, स्त्रियों, दलितों और मुसलमानों की अधीनता का अपने अभियान में जमकर इस्तेमाल करते हैं। दलितों और मुसलमानों को लेकर कुछ लोग कह सकते हैं कि अण्णा ने उनके सामाजिक पृथक्करण को दूर किया है, वगैरह। लेकिन यह भी देखना होगा कि किस तरह दूर किया गया है यह पृथक्करण। वास्तव में, दलितों को उदार उच्च वर्ण हिन्दू वर्ग की शरण में लाकर इस पृथक्करण से मुक्त किया गया है। यह कैसे हुआ है इस पर हम बाद में चर्चा करेंगे। लेकिन ये सारे ही तत्व हैं जो विकास और पर्यावरणीय कार्यों के साथ मिलकर अण्णा के ‘गाँव के पुनरुत्थान और पुनरुदय’ के केन्द्रीय तत्व हैं। अण्णा हज़ारे का प्राधिकार एक विशिष्ट आस्था तन्त्र से समर्थित है, जिसके तहत लोग उनका अनुसरण करते हैं, उनकी आज्ञा का पालन करना अपना कर्तव्य समझते हैं और उन पर अपने प्राधिकार को शासनात्मक रूप में लागू करना अण्णा हज़ारे अपना प्राकृतिक अधिकार समझते हैं। ‘अण्णा’ शब्द का अर्थ ही है ‘बड़ा भाई’! अण्णा की भूमिका एक संरक्षक बड़े भाई, अभिभावक या गार्जियन जैसी है। अगर रालेगण सिद्धी के ही एक निवासी के कथन को उद्धृत करें, तो हम इसे साफ़ देख सकते हैं : ‘जो अण्णा कहते हैं, हम करते हैं – उनके शब्द आदेश समान हैं, जैसे कि सेना में होता है।’ एक अन्य गाँव वाले को सुनें : ‘अण्णा जी तो भगवान समान हैं!’

अण्णा का मानना है कि लोगों को सामाजिक रूपान्तरण के लिए राजी करने के लिए हमेशा सलाह या मनाने का तरीका काम नहीं करता। कई बार बल-प्रयोग करना पड़ता है। यह बल-प्रयोग सामाजिक, भौतिक, शारीरिक या धार्मिक रूप से हो सकता है। जनता में भय पैदा करना बहुत ज़रूरी है। भय ही वह ताक़त है जिससे कि सामाजिक रूप से जड़ जमाये मूल्यों को सुरक्षा और ज़मीन मिलती है। अगर यह भय न हो तो बना-बनाया सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक ढाँचा टूटने लगेगा और समाज में अराजकता फैलने लगेगी। अण्णा

हज़ारे अपने प्राधिकार को लागू करने के एक अंग के रूप में सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाकर या पिटाई करके भय पैदा करने का समर्थन करते हैं। ऐसा वह नियमित तौर पर रालेगण सिद्धी में करते भी हैं। अपने हरित गाँव के मॉडल में इस प्रकार के दण्ड और भय को वह अत्यन्त वाञ्छित मानते हैं क्योंकि यह पहले से स्थापित महान भारत राष्ट्र के गौरवशाली मूल्यों और परम्पराओं को बिखरने से बचाता है; जनता को अनुशासित करता है, दण्ड देता है, आज्ञाकारी बनाता है। और इन तमाम कार्रवाइयों को अंजाम देकर जनता में भय, आज्ञाकारिता और अनुशासन पैदा करके अच्छे और नेक इरादों वाला कोई प्रबुद्ध (निरंकुश?!) शासक ही जनता का भला कर सकता है। जनता स्वयं राजनीतिक और सामाजिक रूप से सचेत होकर स्वशासन कभी नहीं कर सकती। जन्तर-मन्तर पर प्रदर्शन के दौरान जब अण्णा हज़ारे से किसी पत्रकार ने पूछा कि वह चुनाव तन्त्र में प्रवेश कर चुनाव क्यों नहीं लड़ते? अण्णा ने जवाब दिया कि अगर वह चुनाव लड़ेंगे तो उनकी ज़मानत ज़ब्त हो जायेगी क्योंकि जिस देश की जनता सौ रुपये, एक साड़ी, या एक टी.वी. के लिए अपना वोट बेच देती हो वह इस तन्त्र का उपयोग करने के योग्य नहीं है। यह इस देश की जनता से एक ऊँचे मंच पर खड़े होकर राजनीतिक शुद्धता और नैतिकता की उम्मीद करना है। और जब चुनाव में सभी विकल्प आदमखोरों के अलग-अलग गिरोह हैं, तो ज़ाहिर सी बात है, हर कोई अपने वोट की सौदेबाज़ी ही करेगा। लेकिन अण्णा जैसे लोगों की राजनीति इसके जवाब में पूँजीवादी दायरे के भीतर ही पूँजीवादी चुनावी लोकतन्त्र की जगह दूसरा मॉडल पेश करती है : पूँजीवादी धार्मिक पुनरुत्थानवादी निरंकुश प्रबुद्ध शासन! इसे ही 'छद्म विकल्पों का समुच्चय' या 'देल्यूज़' जैसे नवमाक्सवादियों की भाषा में 'डिस्ज़ॉक्टिव सिन्थेसिस' कहते हैं! खैर, आगे बढ़ते हैं। स्पष्ट है कि अण्णा का राजनीतिक मॉडल अगर फ़ासीवादी नहीं है, तो यह 'टेण्डिंग टुवर्ड्स फ़ासिज़्म' या फ़ासीवाद द्वारा विनियोजित कर लिये जाने के लिए 'परफ़ेक्ट मैटीरियल' है।

इस किस्म की आदेश/निर्देश व्यवस्था, आज्ञाकारिता, अनुसरणवादिता को संरचनाबद्ध करने के लिए अण्णा जिस चीज़ का सबसे अधिक इस्तेमाल करते हैं वह है धर्म। अपने प्राधिकार, सत्ता-संरचना (पाँवर स्ट्रक्चर) और प्रबुद्ध निरंकुश शासन तन्त्र के वैधीकरण के लिए अण्णा हज़ारे राम और कृष्ण समेत अनगिनत धार्मिक चरित्रों और प्रतीकों का इस्तेमाल करते हैं। अण्णा ने एक साक्षात्कार में कहा कि भगवान श्री राम दिन-प्रतिदिन जीवन के संचालन और निर्देशन के लिए आदर्श हैं, जबकि वही कार्य पूरे देश के राजनीतिक-

सांस्कृतिक जीवन के लिए करना हो तो सही आदर्श भगवान श्री कृष्ण हैं। अण्णा हज़ारे कहते हैं कि एक मन्दिर या ईश्वर के समक्ष ली गयी सौगन्ध को हर हाल में पूरा किया जाना चाहिए। वरना...! आप देख सकते हैं कि आज्ञाकारिता के लिए धार्मिक भय का किस तरह उपयोग किया जाता है। जो नियमों और क़ानूनों (जिन्हें अण्णा ने बनाया है!) का पालन करते हैं वे हरित गाँव के वैध नागरिक हैं, और जो नहीं करते वे या तो अवैध हैं, या उन्हें अनुशासित करने (सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाकर या पिटाई करके) की ज़रूरत होती है। अण्णा कहते हैं, “सेना में लागू रोज़ाना की दिनचर्या जैसे कि सुबह जल्दी उठना, दौड़ना और शारीरिक प्रशिक्षण, शरीर को साफ़ रखना, रिहायश साफ़ रखना और आस-पड़ोस को साफ़ रखना, आदि ने मुझमें एक अनुशासित जीवन पैदा किया, जिसका लाभ मैं आज तक उठा रहा हूँ। आयु, पद या योग्यता में अपने से वरिष्ठ लोगों को आदर देना और उनकी आज्ञा का पालन करना हमें सिखाया गया था... इसने हमारे द्वारा सामूहिक सहमति से तय नियम-क़ानूनों द्वारा रालेगण सिद्धी में गाँव विकास कार्य को संचालित करने में मेरी मदद की है।” यहाँ पर सेना की संरचना को एक गाँव के बाशिन्दों पर लागू करने पर ज़ोर है। सेना में अपने दिनों को अण्णा याद करते हैं और वैसा ही अनुशासन गाँववालों पर थोपना चाहते हैं। निश्चित रूप से सुबह उठना चाहिए, साफ़-सफ़ाई रखनी चाहिए, आदि... लेकिन यह जनता के भीतर वैज्ञानिक जीवन शैली के प्रति एक सहज और नैसर्गिक रुझान पैदा करके किया जाना चाहिए; धर्म के ज़रिये ज़ोर-ज़बरदस्ती का इस्तेमाल करके नहीं। और न ही निजी जीवन में इन चीज़ों का पालन न किये जाने पर किसी को कोड़े लगाये जाने चाहिए। अब्बलन तो ऐसा कोई मॉडल देश के पैमाने पर लागू कर पाना व्यावहारिक तौर पर असम्भव है, और दूसरी बात अगर ऐसा सम्भव होता तो भी नहीं किया जाना चाहिए।

गाँव में क्या करने की इजाज़त है और क्या करने की नहीं, इसके लिए एक लम्बी-चौड़ी संहिता है। पूरा सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन इस संहिता का पालन करता है। यदि कोई नहीं करता है, तो उसे बहिष्कार, कोड़े या पिटाई झेलनी पड़ सकती है! मिसाल के तौर पर कोई दुकान बीड़ी-सिगरेट नहीं बेच सकती, कोई फ़िल्मी गाने नहीं बजाये जा सकते, पिक्चर हॉलों में केवल धार्मिक फ़िल्में लग सकती हैं, जैसे कि ‘जय सन्तोषी माँ’, ‘शिरडी वाले साई बाबा’, आदि। आप देख सकते हैं कि इस पूरी संहिता की सतह में एक उच्च वर्णीय हिन्दूवाद और ब्राह्मणवाद काम कर रहा है। इस गाँव में नास्तिक या धर्मनिरपेक्ष संस्कृति के लिए कोई जगह नहीं है।

साथ ही अण्णा हज़ारे युद्ध, सेना, देशभक्ति और देश-रक्षा आदि के जुमलों

का जमकर इस्तेमाल करते हैं। आपको अन्धराष्ट्रवाद की थीम रालेगण सिद्धी में बिखरी हुई मिल जायेगी। दुश्मन, रक्षा, युद्ध आदि के पाठ और कथानक रालेगण सिद्धी के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में जड़ित हैं। इस तरह की बात लोगों के दिमाग में व्यवस्थित तरीके से बिठायी गयी है कि हमें गाँव के पुनरुद्धार के द्वारा राष्ट्र निर्माण करना है। हमें एक साथ रहते हुए राष्ट्र को एक सूत्र में (नैतिकतावादी धार्मिक पुनरुत्थानवाद के सूत्र में!) पिरोना है, वरना पाकिस्तान हमारे देश को हड़प जायेगा। इसी से बचने के लिए हमें अपने बच्चों को सेना में भेजना चाहिए। रालेगण सिद्धी के अच्छे-खासे घरों से लोग सेना में गये हैं। अन्धराष्ट्रवाद, जिसका आधार पाकिस्तान-विरोध और धार्मिक पुनरुत्थानवाद और उदार सवर्णवाद है, अण्णा हज़ारे की पूरी विचारधारा के महत्वपूर्ण संघटक तत्व हैं।

नैतिकता और आचार की भी एक बेहद बहिष्कारवादी हिन्दू पुनरुत्थानवादी अवधारणा हज़ारे ने रालेगण सिद्धी के निवासियों के दिमाग में बिठायी है। यहाँ पर “राष्ट्र” (हिन्दू?!) वह शक्ति है जो जनता के सार्वजनिक और निजी जीवन में नैतिकता और आचार को निर्धारित करता है। जीवन मूल्य और नैतिकता की अवधारणा काफ़ी-कुछ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अवधारणा से मिलती-जुलती है। जैसे कि औरतों को घर-गृहस्थी का खयाल रखना चाहिए, लेकिन साथ ही उन्हें अपने राष्ट्र और समुदाय की सहायता करने वाली गतिविधियों में उचित मर्यादा के साथ हिस्सा लेना चाहिए; औरत सार्वभौमिक माता है, महान माता है! तमाम महान माताओं ने महान वीर पुत्रों को जन्म दिया है, जैसे शिवाजी, विवेकानन्द आदि! स्त्री शुद्धता, उदात्तता और आन्तरिक शक्ति का प्रतीक है (बर्दाश्त करने की?!)! बच्चों को बचपन से आज्ञाकारिता (सही होने की परिभाषा: जो आयु, पद या योग्यता में वरिष्ठ कहता है वही सही है!), अनुशासन, शरीर-निर्माण, देशभक्ति, संस्कार, और हिन्दू संस्कृति में प्रशिक्षित किया जाता है। सूर्य नमस्कार करना और नियमित तौर पर ओम का उच्चारण करना विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है। इस पूरे नैतिकता के पाठ को जिस मॉडल के विरोध में खड़ा करके किया जाता है, उसे आप स्वतः समझ सकते हैं: पश्चिमी संस्कृति, नग्नता, मूल्यों, आधुनिकता आदि का हमला!! (भगवान बचाये!!)

जाति के प्रश्न का भी हज़ारे ने नायाब समाधान किया है। दलितों को गाँव के सामाजिक जीवन में सम्मिलित किया गया है और उनके पृथक्करण को भी एक हद तक समाप्त किया गया है। यह सच है। लेकिन सवाल यह है कि यह सामाजिक जीवन है किस किस का? इसमें जाति व्यवस्था किस रूप में काम करती है? इस पर एक निगाह डालते ही अण्णा की विचारधारा का उच्च

जातीय श्रेष्ठताबोध साफ़ हो जाता है। रालेगण सिद्धी में कुछ महाड़, मतंग, सुतार, चमार, आदि हैं। इनके अलावा कुछ जनजातीय आबादी भी है। इसके अलावा पूरी आबादी मराठा हिन्दू है। दलितों के प्रति अस्पृश्यता के खिलाफ़ अण्णा हज़ारे ने संघर्ष किया। उनके सार्वजनिक मन्दिरों में प्रवेश और सार्वजनिक कुँओं से पानी लिये जाने का भी अण्णा ने समर्थन किया। कई मौकों पर अब वहाँ के दलित भी पूजा का आयोजन कराते हैं, पूरे गाँव को खाना बनाकर खिलाते हैं, आदि। पूरे गाँव ने मिलकर एक बार दलित परिवारों द्वारा लिये गये 75,000 रुपये के कर्ज़ को चुकता कर दिया। इसके कारण कई दलित परिवार सूदखोरों के चंगुल से बाहर आ गये। इन सबके लिए दलित आबादी में अण्णा हज़ारे के लिए काफ़ी श्रद्धा है। लेकिन यह तस्वीर का सिर्फ़ एक पहलू है जिसपर कारपोरेट मीडिया ने काफ़ी लाइमलाइट डाली है। अब आइये दलितों के मुँह से ही सुनें कि उनका अपना तजुरबा क्या है।

एक भूमिहीन दलित की बात सुनें : “हम रालेगण सिद्धी को एक गाँव नहीं बल्कि एक परिवार कहते हैं, जिसके मुखिया अण्णा जी हैं और हम लोग वे लोग हैं जो परिवार को सेवाएँ प्रदान करते हैं। यहाँ हिन्दुओं का अर्थ सिर्फ़ मराठा है। हम चमार और महाड़ कभी हिन्दू नहीं कहे जाते हैं। यहाँ यह दावा कैसे किया जा सकता है कि सभी समान हैं? जिनके पास ज़मीन होती है या सेना में नौकरी होती है, उनके विकास का स्तर अलग होता है। हममें और उन में बहुत फ़र्क है।”

एक अन्य दलित जो अण्णा हज़ारे का भक्त है, उसकी बात सुनें : “अब हमारे पास खाना, कपड़ा और घर है। लेकिन बस यही है। इससे ज़्यादा कुछ भी नहीं। जूते पैरों के लिए होते हैं और हमेशा पैरों के लिए ही रहेंगे। हम इस बिन्दु से आगे कभी नहीं जा सकते। यही इस गाँव की संस्कृति है। मैं पहले भी ग़रीब था, अब भी ग़रीब हूँ। पहले भी भुखमरी से मर रहा था, मेरे लिए अब भी कोई बेहतर स्थिति नहीं है। मैं अपने बच्चों की शिक्षा तक का खर्च नहीं उठा सकता। लेकिन मैं अपना मुँह नहीं खोल सकता। इस गाँव में जो कुछ कहा जाता है, उसे मानना ही होता है।” इस दलित का नाम है कैलाश जो गाड़ी चलाना जानता है और उसके पास लाइसेंस भी है, लेकिन वह खेत मज़दूरी करके अपना जीवन बिताता है।

यदि आप इन दलितों के बारे में और गहराई से जानना चाहते हैं तो आप मुकुल शर्मा द्वारा रालेगण सिद्धी पर किये गये अनुसन्धान को देख सकते हैं। उपरोक्त सभी उद्धरण उनके शोध कार्य से ही लिये गये हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि दलितों को ब्राह्मणवादी दायरे के

भीतर उदार और प्रबुद्ध तरीके से संस्थापित कर दिया गया है। उनके दिमाग में दान कर्म और उपकार करके यह बात बिठा दी गयी है कि अगर वे अपना काम नियम से करें तो उन्हें पृथक नहीं किया जायेगा और उनकी उदारतापूर्वक मदद की जायेगी और खयाल रखा जायेगा। लेकिन उन्हें यह मानना होगा कि वे मराठा हिन्दुओं के बराबर नहीं हैं; वे कभी नहीं थे और कभी नहीं हो सकते हैं! इसलिए उन्हें अपने उचित स्थान को पहचान लेना चाहिए! एक बार यदि वे ऐसा कर लें तो उदार प्रबुद्ध मराठा हिन्दू शासक समुदाय भी उनका पूरा खयाल रखेगा! कितना अच्छा दृश्य होगा! मराठा हिन्दू खेतों के मालिक होंगे, सेना और अन्य सरकारी नौकरियों में काम करेंगे और दलित इस बड़े सुखी संयुक्त परिवार को सेवा प्रदान करने वाले सेवक की भूमिका निभायेंगे! मराठा हिन्दू अपनी तरफ से इनके खिलाफ कोई हिंसा नहीं करेंगे, इनका ध्यान रखेंगे, इनको बीच-बीच में दान दिया करेंगे; जैसा कि एक अच्छा उदार मालिक करता है। लेकिन बराबरी? कतई नहीं! दलितों की उपयोगिता ही उनके अस्तित्व का वैधीकरण है और उनकी उपयोगिता उन्हीं कार्यों में है जो धार्मिक रूप से निर्धारित हैं। यह है अण्णा हज़ारे द्वारा जाति प्रश्न का समाधान!

अन्त में...

इन सभी सवालों पर अण्णा हज़ारे की अवस्थिति को देखने और अण्णा हज़ारे के रालेगण सिद्धी में प्रयोग के राजनीतिक विश्लेषण से उनकी राजनीति और विचारधारा को अनावृत्त करने के बाद कुछ बातें स्पष्ट हैं। अण्णा हज़ारे की पूरी सोच महाराष्ट्र में मराठा हिन्दू जातियों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में प्रभुत्व से पैदा हुई राजनीति और विचारधारा से निरन्तरता में अवस्थित है। न सिर्फ यह उस निरन्तरता की अगली कड़ी है, बल्कि यह उस निरन्तरता को आगे के लिए सुदृढ़ और सशक्त भी बनाती है। यह उस पूरे शक्ति-सम्बन्ध समुच्चय को स्वीकार करती है, उसे सही ठहराती है और उसे कॉमन सेंस का हिस्सा बनाने का प्रयास करती है, ताकि वह आलोचनात्मकता के दायरे के बाहर चली जाय। यह एक किस्म का हिन्दू सुधारवाद, पुनरुत्थानवाद और पश्चगामिता है। लेकिन इसके बावजूद यह काफी 'आधुनिक' है। बुर्जुआ आधुनिकता के पूरे जटिल ताने-बाने में ऐसे पुनरुत्थानवाद का होना बेहद ज़रूरी है। यह इस समुच्चय के भीतर पूँजीवादी हितों, संस्कृति, भाषा और सामाजिक जीवन के द्वन्द्वात्मक अन्य (डायलेक्टिकल अदर) की भूमिका निभाती है और रूप में यथास्थिति को जारी रखने और वर्चस्वकारी वर्गों के वर्चस्व को और

गहरा और व्यापक बनाने में मदद करती है। यह एक सजातीय और एकाश्रीय एकता की बात करती है; एक ऐसी एकता जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, वैविध्य के प्रति न सिर्फ अवहेलना का भाव रखती है, बल्कि उसके प्रति अन्धी है। हज़ारे का पर्यावरणवाद और आर्थिक सहकार लोगों के जीवन में बेहतरी लाता है, लेकिन यह हज़ारे की पूरी विचारधारा को और ख़तरनाक बना देता है क्योंकि इसका आधार एक ऐसा सामाजिक और सांस्कृतिक-सामुदायिक ढाँचा है जिसमें स्वतन्त्र, जनवादी विवेक के उपयोग, आलोचनात्मकता, वर्ग संघर्ष और वर्ग सचेतनता की कोई गुंजाइश नहीं है। इस ढाँचे में कोई ऐसा समुदाय नहीं रह सकता है जो भय, दण्ड, बहिष्कार, दान, धर्मार्थ, शुद्धतावाद, संहिताओं, नैतिकताओं आदि के बोझ से मुक्त हो।

हज़ारे का वर्तमान भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन भी आंशिक तौर पर उनकी इसी राजनीति और विचारधारा से पैदा हुआ है। और यह इस समय इसलिए पैदा हुआ है क्योंकि भ्रष्टाचार के विरुद्ध आम जनता में व्याप्त गुस्से के झटके को सोख जाने वाला कोई ऐसा 'शॉक एब्ज़ॉर्बर' व्यवस्था को भी चाहिए था, जो व्यवस्था के लिए ही ख़तरा न बन जाये। ऐसे में, भ्रष्टाचार का नैतिकता-अनैतिकता, सदाचार-अनाचार के जुमलों में विश्लेषण करने वाले किसी अण्णा हज़ारे से बेहतर उम्मीदवार और कौन हो सकता था, जो यह समझने में अक्षम हो कि भ्रष्टाचार एक ऐसी परिघटना है जो पूँजीवाद का अभिन्न अंग है; जो वास्तव में यह समझने में अक्षम हो, कि पूँजीवादी क़ानूनी परिभाषा के अनुसार जो कार्य भ्रष्टाचार माने जाते हैं, अगर वे न भी हों, तो पूँजीवादी व्यवस्था अपनेआप में भ्रष्टाचार है जो ग़रीब मजदूर आबादी, किसान आबादी और आम मेहनतकश जनता के शोषण-उत्पीड़न पर टिकी हुई है। आदमख़ोर पूँजीवादी आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था कठघरे में न खड़ी हो, इसके लिए अण्णा हज़ारे की "परिघटना" का पूँजीवादी व्यवस्था ने कुशल उपयोग किया। अब यह उपयोग खत्म हो चुका है और इसीलिए अब हज़ारे और उनकी मण्डली की भी हवा निकलनी शुरू हो चुकी है। जन्तर-मन्तर पर जो हल्ला-हंगामा मचा, युवा भारत के उदय की बातें होने लगीं, 'अण्णा की आँधी - आज का गाँधी' जैसे जो नारे बने, वे सब अब बेहद बासी हो चुके हैं और उन पर फफूँद लग चुका है। खाते-पीते घरों का अघाया-मुटियाया, लाल-लाल गालों वाला जो 'युवा भारत' अपनी-अपनी कारों की छत पर 'मैं भी अण्णा हूँ' की टोपी लगाये, वूफ़र साउण्ड सिस्टम पर 'लगान', 'स्वदेस' जैसी बाज़ारू देशभक्ति की फ़िल्मों के गाने बजाते हुए सड़कों पर पगलाया जा रहा था, वह भी अब इसमें कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं ले रहा है। वास्तव में,

जब अण्णा हज़ारे और उनकी 'सिविल सोसायटी' मण्डली आखिरी बार जन्तर-मन्तर पर इकट्ठा हुई तो 50 लोग जुटने के भी लाले पड़ गये थे। इस प्रहसनात्मक अभियान (नौटंकी?!) का जो सामाजिक आधार था उसमें यही होना था। भविष्य में एक-दो बार फिर इस देश के खाते-पीते उच्च मध्यवर्ग की देशभक्ति और राष्ट्रवाद वाली ग्रन्थि से कुछ स्राव हो सकता है, लेकिन उसका हश्र भी यही होगा, यह दावे के साथ कहा जा सकता है।

जैसा कि हम पहले ही देख आये हैं, अगर भ्रष्टाचार से छुटकारा पाना है तो पूँजीवाद से छुटकारा पाना होगा। पहली बात तो यह कि भ्रष्टाचार-मुक्त सन्त पूँजीवाद जैसी कोई चीज़ नहीं होती और दूसरी बात यह कि पूँजीवादी व्यवस्था स्वयं एक भ्रष्टाचार है और पूँजी 'छुट्टा साँड़' ब्राण्ड तर्क उसे कभी सदाचार के अपने ही बनाये नियमों का भी पालन नहीं करने देता। पूँजी या तो फैलती है या ख़त्म होती है! और किसी भी किस्म के नियम और क़ानून के दायरे में पूँजी के संचय को कभी रोका नहीं जा सकता। इसलिए यह सारा प्रहसन एक बेकार की नौटंकी है। वास्तविक लड़ाई और वास्तविक शत्रु से यह ध्यान को हटा देती है और सतही कारकों पर ध्यान केन्द्रित कर देती है, जो कि हमें कहीं नहीं ले जाता है। इस पूरे नपुंसक हंगामे पर व्यवस्था को भी एक संवेदनशील प्रक्रिया देकर यह जताने का मौक़ा मिल जाता है कि व्यवस्था के साथ तो सब ठीक है, कुछ व्यक्ति भ्रष्ट हैं जिसके कारण यह सारा झमेला है; और साथ ही यह भी दिखाने का मौक़ा उन्हें मिल जाता है कि वे भ्रष्टाचार को लेकर संवेदनशील हैं और एक रात में तो कुछ होता नहीं है, धीरे-धीरे इसका समाधान कर दिया जायेगा! और जनता के नफ़रत और ऊर्जा की भाप को क्रमशः एक 'सेफ़्टी वाल्व' के ज़रिये निकाल दिया जाता है। इस रूप में अण्णा हज़ारे जैसे लोग व्यवस्था के ही वर्चस्व को और गहरा और व्यापक बनाते हैं। और हज़ारे की विचारधारा जिस किस्म की है, वह हम देख चुके हैं। ऐसी विचारधारा समस्या का समाधान नहीं बल्कि स्वयं समस्या का हिस्सा है। समाधान ही ऐसा हो तो समस्या की ज़रूरत ही कहाँ रहती है!

इसलिए हमें इस या उस प्रकार के सभी भ्रष्टाचार-विरोधी धर्मयुद्धों की असलियत को समझना चाहिए और यह समझना चाहिए कि वास्तविक शत्रु यह पूरी पूँजीवादी व्यवस्था है। जब तक इसे उखाड़कर नहीं फेंका जाता तब तक संवैधानिक और असंवैधानिक, क़ानूनी और ग़ैर-क़ानूनी, नियम से और नियमेतर तरीक़े से मेहनतकश जनता की मेहनत की लूट चलती रहेगी। आज देश के छात्रों-युवाओं को यह खुद भी समझना होगा और देश को भी समझाना होगा। केवल सी.पी.आई. (एम.एल.) लिबरेशन जैसे अवसरवादियों से यह

उम्मीद की जा सकती थी कि वह कोई भ्रष्टाचार-विरोधी छात्र मंच बनाकर जनता के भ्रमों को और बढ़ावा दे। क्योंकि अण्णा हज़ारे की ही तरह उसे भी व्यवस्था को क्रान्तिकारी परिवर्तन से नहीं बदलना है, बल्कि इसी में पैबन्दसाज़ी करते हुए, लाल जुमलों का इस्तेमाल करते हुए शासक वर्गों की ही सेवा करनी है। लेकिन जो सही मायने में इस देश और समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन के मार्ग को अपनाते हैं, उन्हें इस प्रकार के सभी धूम्रावरणों को चीरकर और भ्रमों को तोड़कर क्रान्तिकारी परिवर्तन की परियोजनाओं को संगठित करने में अपनी पूरी ताक़त लगानी होगी।

*(आह्वान, मार्च-अप्रैल 2011 और मई-जून 2011 में
दो किशतों में प्रकाशित)*

अण्णा हज़ारे का भ्रष्टाचार-विरोधी धर्मयुद्ध : प्रकृति, चरित्र और नियति

अन्ततः 'सबकी इज़्ज़त बचाओ' फ़ार्मूले के तहत अण्णा हज़ारे और कांग्रेस सरकार के बीच समझौता हो गया। समझौते की घोषणा के लिए अण्णा हज़ारे के मंच पर कांग्रेस के नेता विलासराव देशमुख भी मौजूद थे ताकि यह सन्देश जा सके कि कांग्रेस ने अण्णा हज़ारे की माँगों पर कितनी सुचिन्तित प्रतिक्रिया दी है। अण्णा हज़ारे और उनकी टीम के लिए भी विजय और कांग्रेस-नीत सं.प्र.ग. सरकार के लिए भी विजय! अभी जन लोकपाल बिल या किसी भी लोकपाल बिल का क्या होना है, इसका जवाब नहीं दिया जा सकता। लेकिन अब जबकि भ्रष्टाचार-विरोधी धर्मयुद्ध का तामझाम रामलीला मैदान से हट चुका है; "अगस्त क्रान्ति" को लेकर मीडिया का उन्माद थोड़ा ठण्डा पड़ चुका है, तो कुछ बातें विवेकपूर्ण और आलोचनात्मक दृष्टि के साथ की जा सकती हैं। जिस समय रामलीला मैदान देश के सबसे बड़े शो का स्थान बना हुआ था, भारत के शहरी मध्यम वर्गों के विभिन्न संस्तर अपने ताज़े-ताज़े अर्थबोध के साथ सड़कों पर 'मैं भी अण्णा हूँ' की टोपी लगाये घूम रहे थे और मीडिया 'आज़ादी की दूसरी लड़ाई', 'भारत के तहरीर चौक' और 'दूसरे गाँधी' के पागलपन भरे गुणगान में लगा हुआ था, तब तक किसी भी किस्म के आलोचनात्मक स्वर के लिए स्थान नहीं बचा हुआ था। उस समय आप न चाहते हुए भी पक्ष या विपक्ष में धकेल दिये जाते : भ्रष्टाचारी नेता-नौकरशाह या शुद्ध-स्वच्छ अण्णा हज़ारे! जबकि सच्चाई यह है कि उदार पूँजीवादी राज्य (अपनी नेताशाही और नौकरशाही समेत, जिसकी कि नियति और फ़ितरत ही भ्रष्टाचार में डूब जाने की है), हमेशा अपनी नैसर्गिक गति से अण्णा हज़ारे जैसे मसीहाओं को पैदा करता रहता है और पैदा करता रहा है। ये दोनों एक ही व्यवस्था की गति के दो विपरीत दिखने वाले गुण हैं। लेकिन वास्तव में ये एक ही हैं। **मसीहावाद एक उदार पूँजीवादी राज्य के कार्यकलाप का नैसर्गिक और नियमित अन्तराल पर प्रकट होने वाला उपोत्पाद है।** इसलिए कुछ विनोबा, कुछ

बहुगुणा, कुछ हज़ारे और कुछ बेदी-केजरीवाल हमेशा पैदा होते रहेंगे। ऐतिहासिक तौर पर मुनाफ़े पर टिकी हर लुटेरी व्यवस्था को ऐसे सन्तों, भले मानुषों की ज़रूरत होती है। इनके बिना वह चल ही नहीं सकती। जब हज़ारे का आन्दोलन पूरे ज़ोर पर था, उस समय कोई तीसरा आलोचनात्मक पक्ष लेना असम्भव-सा बन गया था, हालाँकि हमने तब भी इस “अण्णा परिघटना” पर लिखा था। लेकिन अब शायद विवेक और आलोचनात्मकता के साथ कुछ बातें ज़्यादा प्रभावित के साथ की जा सकती हैं।



अण्णा हज़ारे और उनकी मण्डली ने एक ऐसे समय में भ्रष्टाचार का मुद्दा उठाया जब देश की आम जनता में भ्रष्टाचार के खिलाफ़ नफ़रत अपने चरम बिन्दु पर पहुँच रही थी। कॉमनवेल्थ खेल घोटाला, टू जी स्पेक्ट्रम घोटाला, आदर्श सोसायटी घोटाला, और छोटे-मोटे कई घोटालों का हाल ही में खुलासा हुआ है। इन खुलासों ने आम जनता के बीच भ्रष्ट नेताओं और नौकरशाहों के प्रति घृणा और नफ़रत को बेइन्तहाँ बढ़ाया। अण्णा हज़ारे का भ्रष्टाचार के खिलाफ़ अभियान का आह्वान विशेष तौर पर मध्यम वर्ग के विभिन्न संस्तरों में काफी प्रभावी सिद्ध हुआ। यह वर्ग भ्रष्टाचार के सबसे प्रसिद्ध, प्रचारित और प्रत्यक्ष रूपों से रोज़-ब-रोज़ रूबरू होता है। बिजली कनेक्शन लगवाने से लेकर राशन कार्ड बनवाने, टेलीफ़ोन बिल जमा करने, घर का नक्शा पास कराने, विभिन्न प्रकार के औद्योगिक और व्यापारिक लाइसेंस लेने तक, हर काम के लिए इस वर्ग को नौकरशाही के निचले से ऊँचे स्तर तक घूस खिलानी पड़ती है। इन दिक्कतों का सामना करने वाले इन दरम्याने वर्गों के सामने जब अरबों-खरबों रुपये के घोटालों का पर्दाफ़ाश हुआ तो ये वर्ग नेताओं और नौकरशाहों के भ्रष्टाचार के विरुद्ध और भी रुष्ट हो गये। इसी मौक़े पर अण्णा हज़ारे और उनकी “सिविल सोसायटी” मण्डली अपने भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान को लेकर उपस्थित हो गयी। अण्णा हज़ारे की इन वर्गों में ज़बरदस्त लोकप्रियता के पीछे मीडिया द्वारा फैलायी गयी सनसनी के अलावा इस गुस्से ने अहम भूमिका निभायी।

आमतौर पर, देश के ग़रीब मज़दूर, किसान, दलित, मुसलमान और पिछड़े वर्ग पहले जन्तर मन्तर और फिर रामलीला मैदान में आयोजित इस शो से गा़यब थे। इसलिए नहीं कि ये वर्ग अपने हितों के प्रति अचेत हैं या उन्हें पता नहीं है कि भ्रष्टाचार क्या होता है। वास्तव में, ये वे वर्ग हैं जिनके लिए भ्रष्टाचार महज़ आमदनी में कमी लाने वाली कोई शक्ति नहीं है, बल्कि

उनके लिए तो यह वह ताकत है जो भुखमरी के कगार पर जी रहे इन लोगों के जीवन को और ज़्यादा तबाह और बरबाद करती है। संविधान-सम्मत और क़ानूनी तौर पर की जाने वाली लूट और शोषण से आम मेहनतकश जनता को दरिद्रता के गर्त में पहुँचाने के बाद भ्रष्टाचार के ज़रिये पूँजीपति, व्यापारी, नेता और नौकरशाह उन्हें उन तौर-तरीकों से लूटते हैं, जिन्हें पूँजीवादी संविधान और क़ानून मान्यता नहीं देते। यह सच है कि यह भ्रष्टाचार ख़त्म हो जाये तो आम ग़रीब मेहनतकश जनता के जीवन में कुछ परिमाणात्मक बेहतरी ज़रूर आयेगी। लेकिन एक मुनाफ़ा केन्द्रित व्यवस्था और लोभ-लालच की संस्कृति पर टिके समाज के रहते इस भ्रष्टाचार के ख़त्म हो जाने की आकांक्षा करना आकाश-कुसुम की अभिलाषा के समान ही है। लेकिन आम ग़रीब मेहनतकश जनता अण्णा हज़ारे के महा-शो से शुरू से अन्त तक कमोबेश अनुपस्थित थी क्योंकि वह जानती है कि इस भ्रष्टाचार-विरोधी मुहिम से उस भ्रष्टाचार का बाल भी बाँका नहीं होने वाला है जिसका शिकार मुख्य तौर पर वह होती है।



दूसरा अहम सवाल यह है कि क्या अण्णा हज़ारे की मण्डली द्वारा प्रस्तावित जन लोकपाल इस भ्रष्टाचार को दूर कर सकता है? आज जिस भ्रष्टाचार की बात की जा रही है वह सरकारी संस्थाओं और विशेषकर नौकरशाही द्वारा किया जाने वाला भ्रष्टाचार है। आप नौकरशाही के भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए एक ऐसा नौकरशाह (यानी, प्रस्तावित जनलोकपाल) बनाना चाहते हैं जो अब तक का सर्वाधिक शक्तिशाली नौकरशाह होगा। इस बात को समझने के लिए बस थोड़ा-सा आलोचनात्मक विवेक इस्तेमाल करने की ज़रूरत है कि नौकरशाही तन्त्र के भ्रष्टाचार को कोई नौकरशाह या किसी भी किस्म का नौकरशाहाना विकल्प नहीं दूर कर सकता है। एक ऐसी संस्था जिस पर जनता का कोई नियन्त्रण नहीं होगा, जिस पर जनसमुदायों की कोई निगरानी नहीं होगी, वह वास्तव में एक भस्मासुर साबित होगी। संविधान में पहले भी बहुत से प्रगतिशील दिखने वाले अधिनियम और क़ानून लाये गये हैं। उन सबका क्या हश्र हुआ है? मिसाल के तौर पर, आज मनरेगा और सूचना के अधिकार के क़ानून का क्या हश्र हो रहा है? हाल ही में, शेहला मसूद की हत्या और उससे पहले देश-भर में हुई सूचना के अधिकार और मनरेगा को लेकर काम करने वाले दर्जनों कार्यकर्ताओं की हत्याओं ने साफ़ तौर पर दिखलाया है कि बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार, ग़रीबी आदि जैसी सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का समाधान कोई क़ानून बनाकर नहीं किया जा

सकता है। जब तक समाज के संसाधनों पर कारपोरेट घरानों, छोटे-बड़े और मँझोले पूँजीपतियों, ठेकेदारों, तरह-तरह के दलालों, नेताओं और नौकरशाहों, अपराधियों और व्यापारियों का नियन्त्रण रहेगा तब तक आम मेहनतकश आबादी शोषित और उत्पीड़ित होती रहेगी। जिस समाज में मुनाफ़े, लालच और सम्पत्ति की संस्कृति हावी रहेगी, उसमें अव्वलन तो भ्रष्टाचार को आप प्रवचन देकर, भय या आतंक पैदा करके ख़त्म नहीं कर सकते; और दूसरी बात यह कि आज महाशक्तिशाली कारपोरेट घरानों की पूँजी की ताक़त अगर विधायिका से लेकर कार्यकारिणी और न्यायपालिका तक को ख़रीद लेती है, तो ऐसा शुद्ध, पावन और पवित्र व्यक्ति कोई नहीं जो भ्रष्ट ही न हो सके। अगर जनलोकपाल भ्रष्ट हो जाता है, तो क्या? इस बात की क्या गारण्टी है कि ज़बरदस्त शक्तियों से लैस जनलोकपाल भ्रष्ट नहीं हो सकता? दुनियाभर के समकालीन इतिहास में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मिल जाते हैं जब इस प्रकार की संस्थाएँ बिक गयी हैं, या न बिकने पर ऐसे व्यक्तियों की हत्याएँ की गयी हैं। स्कैंडिनेवियाई देशों से लेकर पश्चिमी यूरोप के तमाम देशों में ओम्बड्समैन नामक संस्था है, जो काफी हद तक हज़ारे मण्डली द्वारा प्रस्तावित जनलोकपाल जैसी है। लेकिन इन देशों में भी ये संस्थाएँ या तो बिक जाती हैं या फिर दैत्याकार बहुराष्ट्रीय निगमों के सामने शक्तिहीन हो जाती हैं।

समस्या यह है कि अण्णा हज़ारे जिस प्रकार के जन लोकपाल की बात कर रहे हैं वैसे किसी भी विकल्प में एक ऐसे पूँजीवाद की कल्पना की जाती है जो कि दोषरहित, शुद्ध, ईमानदार, न्यायपूर्ण और स्वच्छ हो। ऐसे पूँजीवाद का सपना अपने आप में एक विभ्रम है। **हज़ारे मण्डली का सवाल इस पूरी व्यवस्था पर है ही नहीं।** उनका सवाल इस बात पर नहीं ही होता कि सरकारें 'मेमोरैण्डम ऑफ़ अण्डरस्टैंडिंग' पर हस्ताक्षर करके आनन-फ़ानन में देश की प्राकृतिक और मानव सम्पदा को कारपोरेट घरानों को बेच देती हैं; गुजरात में निवेशक सम्मेलन में मोदी की फ़ासीवादी सरकार ने 3 दिनों के भीतर सैकड़ों ऐसे समझौते कर डाले जिसके तहत गुजरात में विशेष आर्थिक क्षेत्र बनाये जायेंगे, सरकारी उद्यमों का निजीकरण कर दिया जायेगा, मज़दूरों के न्यायसम्मत अधिकारों को छीन लिया जायेगा, ग़रीब किसानों और आदिवासियों से उनकी जगह-ज़मीन विकास के नाम पर छीन ली जायेगी; हज़ारे कभी इस बात पर सवाल नहीं उठाते कि विशेष आर्थिक क्षेत्र का पूरा क़ानून ही असंवैधानिक है, जिसके तहत विशेष आर्थिक क्षेत्रों में पूँजीपतियों को क़ानूनी तौर पर इस बात की इजाज़त मिल जाती है कि वे तमाम श्रम क़ानूनों की धज्जियाँ उड़ायें; हज़ारे के दिमाग़ में कभी यह बात नहीं आयी कि

इस देश की सरकार एक तरफ़ कारपोरेट घरानों को 13 लाख करोड़ रुपये के बजट में से करीब 9 लाख करोड़ रुपये कर छूट, शुल्क रियायत और कर्ज़ माफ़ी के तौर पर दे देती है और दूसरी तरफ़ इस देश में 1998 से लेकर अब तक करीब ढाई लाख किसानों ने कर्ज़ के तले दबकर आत्महत्या कर ली है; हज़ारे के मन में कभी इस बात को लेकर सवाल नहीं पैदा होता कि जब कृषि ऋण माफ़ी की योजना आती है तो उसमें केवल उच्च मध्यम किसानों तक को छूट मिलती है, छोटे कर्ज़ लेने वाले ग़रीब किसान अभी भी बैंकों और टुच्चे सूदख़ोरों के अँगूठे के नीचे दम तोड़ रहे हैं; हज़ारे कभी झारखण्ड, छत्तीसगढ़, पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश में लाखों आदिवासियों को मुनाफ़े की खातिर उनकी ज़मीन से उजाड़े जाने पर सवाल नहीं खड़ा करते; उनका दिल कभी हज़ारों ग़रीब मुसलमानों की गुजरात में बर्बरता से साम्प्रदायिक फ़ासीवादियों द्वारा हत्या कर दिये जाने पर नहीं पिघलता; उल्टे उन्हें गुजरात का वह “विकास” नज़र आता है जिसकी मलाई गुजरात के धनाढ्य वर्ग चाट रहे हैं और जिसकी नींव में मज़दूरों की लाशें हैं; हज़ारे जिस समय अपना भ्रष्टाचार-विरोधी धर्मयुद्ध चला रहे थे, उसी के ठीक बाद मारूती के मज़दूर गुड़गाँव में अपने जायज़ हकों को लेकर सड़कों पर थे; लेकिन हज़ारे मण्डली में से किसी ने भी इस पर एक बयान तक नहीं जारी किया; हज़ारे का रामलीला शो ख़त्म होने के ठीक बाद ही सरकारी जाँच एजेंसी ने कश्मीर में हज़ारों बेनाम कुब्रों की मौजूदगी की पुष्टि कर दी, जिसने भारतीय सुरक्षाबलों द्वारा कश्मीर के बेक़सूर बेटे-बेटियों पर ढाये गये जुल्मों को बेपर्दा कर दिया, लेकिन हज़ारे मण्डली में से किसी ने भी इस पर एक शब्द कहना भी ज़रूरी नहीं समझा। ऐसे दर्ज़नों और जलते प्रश्न आज देश की आम मेहनतकश जनता के सामने उपस्थित हैं जो प्राथमिकता में सबसे ऊपर आते हैं। क्या ये सब भ्रष्टाचार नहीं हैं? क्या यह न्यायपूर्ण है? नहीं! लेकिन अण्णा हज़ारे मण्डली को इस पर कुछ नहीं कहना! यहाँ तक कि उनके जनलोकपाल बिल के दायरे में कारपोरेट भ्रष्टाचार और एन.जी.ओ. संगठनों द्वारा की जाने वाली अरबों रुपये की हेरा-फेरी आती ही नहीं! आयेगी भी कैसे? केजरीवाल के एन.जी.ओ. को वित्त-पोषण देने वाले औद्योगिक घरानों में स्वयं टाटा है! यह वही टाटा है जो नीरा राडिया नामक दलाल के ज़रिये लॉबीइंग करके सरकारी नीति निर्धारण को ख़रीद रहा था! यह भ्रष्टाचार अण्णा हज़ारे मण्डली की नज़र में सदाचार है! वास्तव में, नौकरशाही का भ्रष्टाचार सबसे प्रत्यक्ष भ्रष्टाचार होने के नाते जनता के गुस्से का सीधा निशाना बनता है। इसकी पहचान आसान है और इसलिए यह एक ‘सॉफ़्ट टारगेट’ बन जाता है। कारपोरेट घराने और

एन.जी.ओ. मिलकर जो अरबों का भ्रष्टाचार करते हैं वह हज़ारे मण्डली को कभी नज़र नहीं आयेगा क्योंकि केजरीवाल से लेकर किरण बेदी तक करोड़पति स्वयंसेवी संगठनों के कर्ता-धर्ता हैं। ऐसे एन.जी.ओ. टाटा जैसे पूँजीपतियों को कर से बचने के लिए अपने निवेश को वैविध्यपूर्ण बनाने में काफी मदद करते हैं।



अण्णा हज़ारे और उनकी मण्डली संविधान-सम्मत लूट और शोषण के प्रति अन्धी है। यही कारण है कि टाटा से लेकर बिड़ला तक और अम्बानी से लेकर हिन्दुजा तक ने अण्णा हज़ारे की मुहिम को खुले दिल से समर्थन दिया। यह अनायास नहीं था। यह तो पूँजीपति वर्ग भी चाहता है कि उसकी संविधान-सम्मत लूट में से नौकरशाही जो हिस्सा असंवैधानिक लूट के ज़रिये मारती है (यानी, रिश्वत-घूस आदि के ज़रिये), वह न मार सके और राजसत्ता के ज़रिये इस लूट-तन्त्र को सुचारू रूप से चलाने के लिए जो वेतन मिलता है, उसी से सन्तुष्ट रहे। लेकिन पूरी पूँजीवादी संस्कृति ही सम्पत्ति संचय, धन संचय, लालच और लोभ पर टिकी है; ऐसे में, बेचारे नौकरशाहों से बेजा उम्मीद ही तो की जाती है! अगर नौकरशाही के भ्रष्टाचार पर कोई जनलोकपाल थोड़ी भी लगाम लगा पाता है तो जनता की लूट से प्राप्त होने वाले कुल अधिशेष में से अनौपचारिक तौर पर पूँजीपति वर्ग को कोई हिस्सा नौकरशाहों को नहीं देना पड़ेगा! इसका लाभ जनता को तो नाममात्र का ही मिलेगा, लेकिन पूँजीपति कारपोरेट घरानों को इससे ख़ासा फ़ायदा मिलेगा। लेकिन असल सवाल तो कहीं और है। इन कारपोरेट घरानों को क़ानूनी तौर पर ही जो हक़ हासिल हैं, वह मेहनतकश जनता के खिलाफ़ अपराधी भ्रष्टाचार है। क्या यह भ्रष्टाचार नहीं है कि इस देश में मज़दूरों के लिए क़ानूनी तौर पर तय न्यूनतम मज़दूरी उनके जीविकोपार्जन के लिए भी अपर्याप्त है? वास्तव में तो वह भी लागू नहीं होती! क्या यह भ्रष्टाचार नहीं है कि जनता की गाढ़ी कमाई जो राष्ट्रीय बचत के रूप में बैंकों और राष्ट्रीयकृत वित्तीय संस्थानों में संचित थी, उससे पहले सार्वजनिक क्षेत्र को खड़ा किया गया और अब उसे औने-पौने दामों पर पूँजीपतियों को बेचा जा रहा है? क्या यह भ्रष्टाचार नहीं है कि देश के कुल सरकारी ख़ज़ाने का 97 प्रतिशत ग़रीब जनता द्वारा दिये जाने वाले करों से एकत्र होता है और हर बजट में उसका 80 फ़ीसदी पूँजीपतियों, मालिकों को सौंप दिया जाता है या फिर सट्टेबाज़ों के हवाले कर दिया

जाता है? क्या यह भ्रष्टाचार नहीं है कि क़ानूनी तौर पर देश-भर में राज्य सरकारें और केन्द्रीय सरकार देशी-विदेशी पूँजीपति घरानों को देश के प्राकृतिक और मानव संसाधनों को लूटने की खुली छूट दे रहे हैं? लेकिन हज़ारे मण्डली की नज़र में यह भ्रष्टाचार कहीं नहीं आता है। वह जिस संसद को भ्रष्ट और चोर कहती है, उसी के पास जनलोकपाल बनाने की माँग को लेकर जाती है।

संसदीय वामपन्थियों ने संसद की गरिमा बचाने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया है! प्रभात पटनायक ने एक पूरा लेख लिख मारा है जिसमें उन्होंने बताया है कि महान पूँजीवादी संसद की गरिमा को हज़ारे कैसे नुक़सान पहुँचा रहे हैं! वास्तव में, संसद में बैठने वाले ये सबसे घाघ उठाईगीर संसद की गरिमा को लेकर सबसे ज़्यादा चिन्तित हो गये हैं, और बेवजह ही चिन्तित हो गये हैं! हज़ारे मण्डली ने बार-बार स्पष्ट किया है कि संसद की संस्था पर उन्हें पूरा भरोसा है और उनका मक़सद कहीं भी संसद की साख और गरिमा को चोट पहुँचाना नहीं है! संसदीय वामपन्थियों में जिन्हें अवसरवाद का गोल्ड मेडल दिया जाना चाहिए, यानी कि सी.पी.आई. (एम.एल.) लिबरेशन, वे दूसरे ही छोर पर चले गये हैं! पहले तो उन्होंने अण्णा हज़ारे की गोद में बैठने की कोशिश की; लेकिन उन्होंने पाया कि इस गोद में बैठने के लिए तो काफ़ी लम्बी लाइन लगी हुई है और उनका नम्बर वेटिंग में भी नहीं आ रहा है, तो उन्होंने भ्रष्टाचार के खिलाफ़ अपनी अलग दुकान खोल ली! जन्तर-मन्तर पर स्वयं दीपांकर भट्टाचार्य भ्रष्टाचार-विरोधी प्रदर्शन में आये और बेख़याली में न जाने क्या-क्या बोल गये! अब यह तो कोई आला दर्जे का संसदीय वामपन्थी ही बता सकता है कि यह कौन-सा मार्क्सवाद है जो पूँजीवाद के कुर्ते से भ्रष्टाचार के दाग़ को मिटाने में अण्णा की पूँछ बनना चाहता है! लिबरेशन की कविता कृष्णन एक लेख में लिखती हैं अण्णा हज़ारे के प्रदर्शन में शामिल सभी लोग फ़ासीवादी या कारपोरेट घरानों के दलाल नहीं हैं! निश्चित तौर पर, यह एक सत्य कथन है! टुटपूँजिया वर्गों के ऐसे किसी भी आत्मिक उभार और मसीहावाद के छाते में पनपने वाले नपुंसक असंलग्न एक्टिविज़्म में शामिल भीड़ में सभी फ़ासीवादी या कारपोरेट दलाल नहीं होते! इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि सर्वहारा वर्ग का हिरावल उसमें सुर मिलाने के लिए भागा चला जायेगा! इसका यह अर्थ जनता में किसी भी प्रकार की लहर उठने का किनारे पर 'सर्फ़िंग पैड' लेकर इन्तज़ार कर रहे लिबरेशन जैसे अवसरवादी संसदीय वामपन्थी ही लगा सकते हैं! और कोई ताज़ुब नहीं कि "जनता को सड़क पर" देखकर कविता कृष्णन जैसे सभी लोगों की आँखें

बाहर आ गयीं! काफ़ी स्वाभाविक था।

यह अपेक्षित था कि संसदीय वामपन्थियों की विभिन्न प्रजातियाँ इस मौक़े पर ऐसा ही बर्ताव करेंगी। यहाँ उदार (भ्रष्ट) पूँजीवादी राज्य बनाम टुटपूँजिया लोकरंजक मसीहावाद के रूप में जो छद्म विकल्पों का युग्म देश की जनता के समक्ष पेश किया गया है, उसके किसी न किसी छोर को पकड़कर जनता के बीच इस मसले पर सर्वहारा दृष्टिकोण पर पर्दा डालने का काम संसदीय वामपन्थी काफ़ी कुशलता से कर रहे हैं। इस मुद्दे पर एक सही क्रान्तिकारी दृष्टिकोण क्या होना चाहिए, इसे बताने की उम्मीद उनसे करना भी व्यर्थ होगा।



अण्णा हज़ारे एक ओर शहरी मध्यम वर्गों के तमाम संस्तरों को और एक हद तक गाँवों के भी खाते-पीते मध्यम वर्ग को अपने अभियान के समर्थन में रामलीला मैदान तक लाने में सफल रहे; देश-भर में उनके पक्ष में कारों के पीछे, होर्डिंगों पर, मोटरसाइकिलों पर और घरों की छतों पर समर्थन के नारे देखे जा सकते थे; दिल्ली में और देश के तमाम बड़े शहरों में जगह-जगह खास तौर पर व्यापारियों ने, उच्च मध्यवर्गीय छात्रों और युवाओं की आबादी ने अण्णा हज़ारे के पक्ष में प्रदर्शन किया, कारों और मोटरसाइकिलों से जुलूस भी निकाला। इसके अलावा, अण्णा हज़ारे की टीम कारपोरेट मीडिया को अपने पक्ष में गोलबन्द करने में भी सफल रही। इन दोनों के कारण इस “आन्दोलन” के दो महत्वपूर्ण पहलुओं में निहित थे।

पहला पहलू है निम्न पूँजीवादी लोकरंजकतावाद। अण्णा हज़ारे ने जो मुद्दा, जिस समय और जिस रूप में उठाया वह उनके भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान के निम्न पूँजीवादी या मध्यवर्गीय लोकरंजक चरित्र को दिखलाता है। पहली बार जन्तर-मन्तर पर और फिर बाद में रामलीला मैदान में जनता की नेताओं और नौकरशाहों के प्रति जो नफ़रत है उसके आधार पर लोकप्रियता बटोरने का काम जमकर हुआ। इस लोकप्रियता का एक कारण मीडिया और अण्णा की मण्डली द्वारा और मध्यवर्गीय के अधैर्य द्वारा पोषित यह यक़ीन भी था कि जन लोकपाल जैसी कोई संस्था आनन-फ़ानन में भ्रष्टाचार और भ्रष्टाचारियों का वारा-न्यारा कर देगी। ‘नेताओं को चील-कौब्यों को खिला दो!’, ‘भ्रष्टाचारियों को मृत्यु दण्ड दो!’, और इसी प्रकार के बेहद हिंस्र किस्म के नारे (जो किसी कोण से गाँधीवादी तो नहीं ही दिखते हैं!) दोनों ही जगहों पर लगाये जा रहे थे! किरण बेदी ने तो चुन्नी लेकर जो डांस किया और

नेताओं का मजाक बनाया, वह मीडिया में छा गया! यह सब टुटपूँजिया वर्गों के नपुंसक गुस्से को अपील करने वाला था। मीडिया में मध्यवर्ग की “नींद टूटने” की बात की जा रही थी; लेकिन वास्तव में बीच-बीच में मध्यवर्ग की नींद इस तरीके से पहले भी टूटती रही है। लेकिन उसके जागने का अब तक कोई ठोस फल नहीं दिखा है। इस पूरी नौटंकी के दौरान देखने में आया कि किस तरह से कुछ आदर्शवादी लोगों के अलावा मध्यवर्गों, और विशेषकर उच्च और मध्य मध्यवर्ग के लिए यह राष्ट्रभक्ति और देशभक्ति का जश्न मनाने का मौका था। इसके लिए सामाजिक और राजनीतिक तौर पर इजाजत प्राप्त थी कि सड़कों पर बीयर पीकर बाइकें और कारें दौड़ायी जायें, देशभक्ति के गाने बजा दिये जायें, ‘मैं भी अण्णा हूँ’ के नारे लगा दिये जायें। यह एक खास तौर का एक्टिविज़्म था, एक एकदम कोर तक एक टुटपूँजिया असंलग्न एक्टिविज़्म था। और पूरी भीड़ में अलग-अलग रूपों में यह असंलग्न एक्टिविज़्म ही दिख रहा था। जनता राजनीतिक तौर पर सचेत, गोलबन्द, संगठित और सक्रिय नहीं थी। वह खुशी-खुशी असक्रिय और असचेत थी, क्योंकि एक मसीहा और नायक अति-सक्रिय होकर अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल पर बैठा था! इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि एक मसीहा और नायक अति-सक्रिय होकर अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल पर बैठा था, इसलिए भीड़ खुशी-खुशी असक्रिय और असचेत थी! इसे हम एक क्रान्तिकारी जनान्दोलन का नाम नहीं दे सकते। क्रान्तिकारी जनान्दोलन जनता के राजनीतिक तौर पर सचेत होने, गोलबन्द होने, संगठित होने और संगठित रूप में सक्रिय कार्रवाई करने पर टिका होता है। वह किसी मसीहा या नायक की सचेत अति-सक्रियता और जनता की (आनन्दमय?!) अचेत अ(संलग्न) सक्रियता पर आधारित नहीं होता।

यहीं से हम इस आन्दोलन के दूसरे महत्वपूर्ण पहलू पर आते हैं। यह पहलू है मसीहावाद और सर्वसत्तावाद। निश्चित रूप से, अण्णा हज़ारे का मकसद कोई सर्वसत्तावादी शासक बनना नहीं है। लेकिन सवाल यहाँ अण्णा हज़ारे के सपनों और आकांक्षाओं का नहीं है। वास्तव में, इस पूरे “आन्दोलन” का चरित्र शुरू से ही गैर-जनवादी रहा है। और इसका कारण अण्णा हज़ारे की अपनी विचारधारा और राजनीति है, जिसके बारे में हम ‘आह्वान’ के पिछले अंक में लिख चुके हैं। इस पर हम यहाँ विस्तार से चर्चा नहीं कर सकते और इसमें दिलचस्पी रखने वाले साथी पिछले दो अंकों में किशतों में प्रकाशित लेख (‘अण्णा हज़ारे का भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान और मौजूदा व्यवस्था से जुड़े कुछ अहम सवाल’ दो किशतों में मार्च-अप्रैल और मई-जून 2011 में

प्रकाशित) को देख सकते हैं। लेकिन यहाँ कुछ नारों से हम अण्णा हज़ारे के अभियान के चरित्र की शिनाख़्त कर सकते हैं। मिसाल को तौर पर एक नारा लगाया गया, 'अण्णा इज़ इण्डिया, इण्डिया इज़ अण्णा'। हमारे जो अग्रज साथी 55 की उम्र को पार चुके होंगे, उन्हें शायद देजावू की अनुभूति हो रही होगी; ऐसा कोई नारा शायद वह पहले सुन चुके हैं। जी हाँ, ऐसा नारा वह इन्दिरा गाँधी के समय में आपातकाल के दौरान सुन चुके हैं जब वह अपने लोकरंजक 20-सूत्रीय कार्यक्रम के साथ सत्ता में आयी थी : 'इन्दिरा इज़ इण्डिया, इण्डिया इज़ इन्दिरा'! उस समय भी आलोचनात्मक स्वर, विरोध, असन्तोष या संवाद की कोई जगह नहीं थी और इस समय भी ऐसा ही था। इस आन्दोलन का सर्वसत्तावादी और गैर-जनवादी चरित्र जन्त-मन्तर पर भी बार-बार उजागर हुआ था। अण्णा हज़ारे का धार्मिक रुझान रखने वाला पुनरुत्थानवाद, अतीतोन्मुखता, जनता के प्रति अवहेलना, अन्धराष्ट्रवाद और प्रबुद्ध निरंकुश सुधारवाद और उद्धारवाद इस आन्दोलन को गैर-जनवादी, गैर-सेक्युलर रूप और चरित्र देता है। इस पूरी सोच का एक टुटपूँजिया प्रतिक्रियावादी चरित्र है और अगर यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि यह फ़ासीवादी सोच और राजनीति है, तो इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि अण्णा हज़ारे की सोच और राजनीति के फ़ासीवादी राजनीति द्वारा समाहित कर लिये जाने और विनियोजित कर लिये जाने की ज़बरदस्त सम्भावना है। बहुत से टीकाकार तो अभी से अण्णा हज़ारे के आन्दोलन में सबकुछ 'मैनेज' किये जाने को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का काम बता रहे हैं। कुछ ने कहा है कि अरविन्द केजरीवाल की पूरी पारिवारिक पृष्ठभूमि आर.एस.एस. की है और वह संघ का 'ट्रोजन हॉर्स' है; यह भी सच है कि केजरीवाल के आडवाणी से क़रीबी रिश्ते रहे हैं; कुछ ने इस तथ्य की ओर इशारा किया है कि आर.एस.एस. के शेषाद्री ने अण्णा हज़ारे के रालेगण सिद्धी प्रयोग पर किताब लिखी है और उस समय से संघ ने इसे हमेशा एक आदर्श प्रयोग की संज्ञा दी है और उसे 'रामराज्य' जैसा बताया है! अण्णा हज़ारे ने संघ के खिलाफ़ कभी कोई स्पष्ट अवस्थिति नहीं अपनायी है। कई पत्रकारों ने 1995 तक अण्णा हज़ारे और संघ के बीच के क़रीबी रिश्तों के बारे में भी लिखा है। 1995 में महाराष्ट्र में भाजपा के कुछ नेताओं के भ्रष्टाचार का मुद्दा उठाने के बाद से अण्णा हज़ारे के रिश्ते आर.एस.एस. से कुछ तनावपूर्ण हुए थे, लेकिन आर.एस.एस. ने उसके बाद भी अण्णा हज़ारे की लगातार बढ़ाई की है और उनके रालेगण सिद्धी के प्रयोग को हिन्दुत्व के प्रयोग का मॉडल माना है, जो कि दलितों और स्त्रियों की आज्ञाकारिता, पाकिस्तान से नफ़रत, वर्ग निगमवाद (क्लास कारपोरेटिज़्म),

प्रबुद्ध संरक्षक के शासन के सिद्धान्त और प्रबुद्ध निरंकुश सुधारवाद और उद्धारवाद पर आधारित है। कई टीकाकारों ने आर.एस.एस. की प्रचार रणनीति और हज़ारे के मौजूदा अभियान के प्रचार के तौर-तरीकों में समानताओं की ओर ध्यान खींचा है। बी.एम. दत्ते नामक संघी नेता ने पुणे में हज़ारे के समर्थन में कई प्रदर्शनों का आयोजन किया। कई लोगों ने जन्तर-मन्तर पर अण्णा हज़ारे के मंच पर संघ के नेताओं की मौजूदगी पर भी उँगलियाँ उठायीं। गौरतलब है कि स्वयं राम माधव अण्णा हज़ारे के मंच पर पहुँचा था। संघ का कुमार विश्वास रामलीला मैदान में 13 दिनों की भूख हड़ताल के दौरान लगातार मंच पर था। संघ ने रामदेव के प्रदर्शन के दौरान भी इसी कुमार विश्वास को रामलीला मैदान में भेजा था। विश्व हिन्दू परिषद का नेता अशोक सिंघल खुले तौर पर मीडिया के सामने विहिप के कार्यकर्ताओं का हज़ारे के अभियान को सफल बनाने के लिए धन्यवाद दे रहा था और बता रहा था कि विहिप के धर्मयात्रा संघ ने हज़ारे के अनशन के दौरान भोजन का स्टॉल लगाया और प्रतिदिन 20 हज़ार लोगों को खिलाया। संघ के शीर्ष नेताओं में से एक भैयाजी जोशी ने बताया कि हज़ारे के अभियान को सफल बनाने के लिए संघ के कार्यकर्ताओं ने पूरी ताकत झोंक दी थी और उनके संगठनकर्ताओं ने बहुत कुशलता से अपना काम किया। यह दावा सही भी हो सकता है, क्योंकि पूरे 13 दिन जो नारे रामलीला मैदान में सबसे ज़्यादा लग रहे थे, वे थे 'भारत माता की जय' और 'वन्दे मातरम'। वैसे भी फ़ासीवादी उभार अक्सर उदार पूँजीवाद के गर्भ से ही भ्रष्टाचार और अनियमितताओं की प्रतिक्रिया के रूप में पैदा होता है। लेकिन ये सभी अन्दाज़े हैं और राजनीतिक कलर-फ़्लेवर देखकर निगमनात्मक पद्धति से निकाले गये नतीजे हैं जो सही भी हो सकते हैं और ग़लत भी! इस पर बहुत देर तक चर्चा करना व्यर्थ होगा। बेहतर यही होगा कि अण्णा हज़ारे की मण्डली के इस दावे को ही फ़िलहाल सही मान लिया जाये कि उनका संघ से "कोई सीधा लेना-देना नहीं है।" लेकिन फिर भी अण्णा हज़ारे के पूरे आन्दोलन के मसीहावाद और सर्वसत्तावाद से इंकार नहीं किया जा सकता है। ऐसा टुटपुँजिया मसीहावाद इतिहास में हमेशा उन दौरों में पैदा हुआ है जब उदार पूँजीवादी सत्ता और व्यवस्था अपनी पतनशीलता और असफलता के चरम पर होती हैं। एक नायकनुमा चरित्र पैदा होता है जो सबकुछ अपने नायकत्व से ठीक कर देने का दावा करता है। मुसोलिनी और हिटलर भी ऐसे ही सामाजिक-ऐतिहासिक सन्दर्भों में पैदा हुए थे। यहाँ हम अण्णा हज़ारे को हिटलर या मुसोलिनी नहीं कह रहे हैं। लेकिन जहाँ तक मसीहावाद का सम्बन्ध है, यह विश्लेषण यहाँ भी लागू होता है।

अन्त में, हम अपनी पूरी बात को कुछ नुक्तों में रखना चाहेंगे। पहली बात, भ्रष्टाचार निश्चित रूप से मुद्दा है। लेकिन इसे सही ढंग से परिभाषित किये बिना इसके खिलाफ किसी जंग का ऐलान करना वैसा ही है जैसा शान्ति को बढ़ावा देने का आह्वान करना है, जिसके एक दर्ज़न लोगों के लिए एक दर्ज़न मतलब हो सकते हैं। मिसाल के तौर पर, शान्ति स्थापित करने का अर्थ जॉर्ज बुश के लिए अलग है और मार्टिन लूथर किंग के लिए अलग! अगर लक्ष्यों, उद्देश्यों और प्रक्रिया को परिभाषा के तात्विक धरातल तक स्पष्ट नहीं किया जाता तो यह एक अस्पष्ट और धुँधला आह्वान बन जायेगा जिसका अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग मतलब हो सकता है। ठीक वैसे ही जैसे कि रामलीला मैदान में कोई ट्रैफिक पुलिस द्वारा गलत चालान काट लिये जाने, कोई समय पर बिजली कनेक्शन न लग पाने, कोई पुलिस द्वारा प्राथमिकी दर्ज़ कराने में आनाकानी करने, कोई जल बोर्ड या विद्युत बोर्ड के छोटे बाबू द्वारा रिश्वतखोरी से परेशान होकर आया था, तो कोई कांग्रेस-नीत सरकार में वंशवाद से दुखी था; कोई घोटालों से परेशान था तो कोई इस बात से कि सारी मलाई ऊपर ही चाँप ली जा रही है! इसलिए सबसे पहली बात है यह स्पष्ट करना कि भ्रष्टाचार से क्या मतलब है? इसमें क्या शामिल है और क्या नहीं?

दूसरी बात, यदि हम सिर्फ उस भ्रष्टाचार की बात कर रहे हैं जो सरकारी दफ़्तरों में होता है और जिसके जिम्मेदार नेता और नौकरशाह हैं, तो हम भ्रष्टाचार के रूप में सिर्फ सरकारी कर्मचारियों द्वारा की जाने वाली रिश्वतखोरी, घूसखोरी और भाई-भतीजावाद को देख रहे हैं। अभी अगर पूँजीवादी लूट की बात न भी करें तो भी इसमें प्रत्यक्ष भ्रष्टाचार के बहुत से स्रोतों को शामिल नहीं किया जैसे कि कारपोरेट और एन.जी.ओ. भ्रष्टाचार।

तीसरी बात, अगर इन सभी स्रोतों को शामिल करके भ्रष्टाचार के उन सभी प्रत्यक्ष रूपों को शामिल भी कर लिया जाये जिन्हें मौजूदा संविधान और क़ानून भी भ्रष्टाचार मानते हैं तो भी इसका कोई कार्यकारी या नौकरशाहाना समाधान सम्भव नहीं है। यानी, नौकरशाही, नेताशाही, कारपोरेट व एन.जी.ओ. भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए आप कोई और शक्तिशाली नौकरशाही ढाँचा खड़ा कर भी दें, तो उससे किसी बड़े परिवर्तन की उम्मीद करना व्यर्थ है। उल्टे यह भस्मासुर पैदा करने जैसा है, क्योंकि जिस व्यवस्था और समाज में सबकुछ बिकता और ख़रीदा जाता हो, वहाँ जन लोकपाल भी बिक सकता है। और अगर जन लोकपाल बिकता है तो यह किसी बड़े बाबू के बिकने से

ज्यादा घातक होगा। यह एक अतिराज्य जैसी संस्था या निकाय है, जिस पर कोई प्रभावी चेक की व्यवस्था नहीं होगी। नौकरशाही के भ्रष्टाचार को नौकरशाही नहीं दूर कर सकती। इसे वास्तविक क्रान्तिकारी जनवाद और समानता की व्यवस्था में संगठित जनसमुदायों द्वारा व्यवस्थित जन निगरानी और जन पहलकदमी द्वारा ही दूर किया जा सकता है। और वह मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था में सम्भव ही नहीं है। लुब्बेलुबाब यह कि मौजूदा व्यवस्था को बदले बिना आप किसी स्वच्छ, शुद्ध, सदाचारी पूँजीवाद की कल्पना नहीं कर सकते। किसी भी क़िस्म का क़ानून, अधिनियम या अधिकारी भ्रष्टाचार को दूर नहीं कर सकता है। यह इस मुनाफ़े की व्यवस्था का नैसर्गिक उपोत्पाद है। यह इसके साथ ही समाप्त हो सकता है।

चौथी बात, भ्रष्टाचार को सही तरीक़े से परिभाषित किया जाना चाहिए। अगर भ्रष्टाचार की एक सही परिभाषा निर्मित की जाये, तो यह समझ आ जाता है कि वास्तव में पूरी पूँजीवादी व्यवस्था स्वयं ही एक भ्रष्टाचार है। इसके भीतर मेहनत की लूट को क़ानूनी और संवैधानिक मान्यता प्राप्त है। जब तक इस पूरी व्यवस्था को उखाड़कर फेंका नहीं जाता और उसकी जगह एक समानतामूलक समाज की स्थापना नहीं की जाती जिसमें उत्पादन, राज-काज और समाज के ढाँचे पर उत्पादन करने वाले वर्गों का हक़ हो और फ़ैसला लेने की ताक़त उनके हाथों में हो, तब तक अलग से महज़ भ्रष्टाचार के खिलाफ़ लड़ाई एक भ्रामक सोच है और यह जनता के बीच व्यवस्था के विभ्रमों को और दीर्घजीवी ही बनायेगा।

पाँचवीं बात, अण्णा हज़ारे का पूरा आन्दोलन वास्तव में मध्यम वर्गों के एक आत्मिक उभार के समान है। यह पूरा आन्दोलन व्यवस्था को कहीं भी कठघरे में खड़ा नहीं करता। यह अलग से भ्रष्टाचार को दूर कर देने का एक मसीहावादी, गैर-जनवादी, जन-विरोधी प्रतिक्रियावादी मॉडल पेश करता है, जो जनता से ज़्यादा प्रबुद्ध निरंकुश संरक्षक-नुमा नायकों पर भरोसा करता है। प्रस्तावित जनलोकपाल बिल के प्रावधानों से इसका पूरा चरित्र उजागर हो जाता है। इसमें मध्यम वर्गों की हिस्सेदारी की निश्चित वजहें थीं, और यह हिस्सेदारी भी राजनीतिक रूप से संलग्न, सचेत, संगठित और सक्रिय हिस्सेदारी नहीं थी, बल्कि एक मसीहा की अति-सक्रिय हिस्सेदारी के साथ टुटपुँजिया असंलग्न, अचेत और निष्क्रिय हिस्सेदारी थी। यह भागीदारी देशभक्ति और राष्ट्रभक्ति के नाम पर जश्न मनाने का मौक़ा ज़्यादा था और मीडिया इसमें पूरी मुस्तैदी से अपनी भूमिका निभा रहा था।

छठी बात, अण्णा हज़ारे के अभियान के वर्ग चरित्र को समझे बिना हम

संशोधनवादी और संसदीय वामपन्थी पार्टियों की दो प्रकार की प्रतिक्रियाओं को नहीं समझ सकते हैं। जिसके संशोधनवाद का तापमान जैसा था, उसने वैसी अवस्थिति अपनायी। सी.पी.आई. और सी.पी.एम. संसदीय गरिमा की बहाली में लगे हुए थे, जिसे अण्णा हज़ारे और उनके चेलों ने काफ़ी नुक़सान पहुँचाया था, तो दूसरी ओर सी.पी.आई. (एम.एल.) लिबरेशन अपनी पुरानी आदत से मजबूर जनता की “लहर” देख उस पर सवारी के लिए मचली जा रही थी। लेकिन दोनों ही छद्म विकल्पों के युग के दो छोर पकड़कर लटके थे और दोनों ही व्यवस्था के भ्रम को अपनी-अपनी तरह से बढ़ाने के काम को वफ़ादारी के साथ अंजाम दे रहे थे।

आख़िर में बस इतना ही कहा जा सकता है कि हर परिवर्तनकामी छात्र-युवा को अण्णा हज़ारे के अभियान के वर्ग चरित्र, विचारधारा और राजनीति को गहरायी से समझना चाहिए; हमें यह समझना होगा कि भ्रष्टाचार का सवाल व्यवस्था के सवाल से अलग नहीं बल्कि नाभिनालबद्ध है। भ्रष्टाचार अपने आप में रोग नहीं, बल्कि एक गम्भीर रोग का लक्षण है। और लक्षणों को दबाने वाला उपचार रोग को घटाता नहीं बल्कि रोग को बढ़ाता है।

(आह्वान, जुलाई-अगस्त 2011)

रामदेव का स्वाभिमान और खाता-पीता मध्यवर्ग

प्रसेन

बाबा रामदेव भारतीय मध्यवर्ग के एक बहुत बड़े हिस्से की सींग हैं, नाखून हैं, चार भुजाधारी विष्णु हैं, जो एक भुजा से बीमारी का संहार करते हैं, दूसरी भुजा से भ्रष्टाचार का, तीसरी भुजा से स्वदेशी का शंख बजाते हैं तो चौथी भुजा से देश के स्वाभिमान की रक्षा करते हैं। जब बाबा रामदेव यौगिक क्रियाओं के साथ स्वदेशी का शंखनाद करते हुए अवतरित होते हैं और भ्रष्टाचार के खिलाफ हुंकार भरते हैं, तो 'बाबा रामदेव की जय हो' के नाद और करतल ध्वनि में वातावरण डूब जाता है।

अपनी भारत स्वाभिमान यात्रा के दौरान बाबा बात करते हैं शुचिता की, अपरिग्रह की, सत्य वचन की, परिवारवाद से उपर उठकर समूचे संसार को अपना परिवार मानने की। इसके बाद बाबा आसन बदलते हैं और कपालभाति क्रिया करते हुए ज़ोर-ज़ोर से साँस खींचते हुए बात करते हैं योग और आयुर्वेद की महिमा की, विश्वगुरु भारत की गरिमा की रक्षा की। फिर बाबा लोगों के हाथ उठवाते हैं, विदेशों में जमा काले धन को वापस लाने के लिए उनके 4 जून से शुरू होने वाले "आमरण अनशन" (डरियेगा मत! यह पहले से ही तय है कि इस अनशन से बाबा मरण तक नहीं जायेंगे) में साथ देने का।

हम इस बाबा के सन्दर्भ में आपसे कुछ बातें करना चाहते हैं। नाराज मत होइयेगा! दुनिया के इस सबसे बड़े लोकतन्त्र में हमें भी अपनी बात कहने की आजादी है। हम बस बाबा रामदेव के स्वदेशी, भ्रष्टाचार विरोध, अपरिग्रह, शुचिता, सत्य वचन तथा योग व आयुर्वेद द्वारा सभी व्याधियों के निदान के दावे पर अपनी बात रखना चाहते हैं, उम्मीद है कि आप सभी गौर फरमायेंगे।

बाबा रामदेव के हृदय में स्वदेशी-स्वदेशी की हूक उठती है। विदेशी शूल उनके कलेजे में चुभ जाता है और वह ज़ोर-ज़ोर से स्वदेशी गौरव गान में पिल पड़ते हैं। आइये इनके स्वदेश-राग की मूल बात पर एक नज़र डालें। वस्तुतः पूँजीवादी व्यवस्था का आम नियम है कि बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती है। यानी बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को खा जाती है। ऐसा वह अपनी

साख, वित्तीय उपायों, उन्नत तकनीक, शासन व प्रशासन में अपने प्रभाव के ज़रिये करती है। छोटी मछली को बड़ी मछली बनने के लिए सदैव ही धर्म, नस्ल, अन्धराष्ट्रवाद (या स्वदेशी) इत्यादि की ज़रूरत पड़ती है। ऐसा करके वह न केवल अपने उत्पादों की उत्पादन लागत को कम कर पाने में सफल होती है वरन बिक्री भी बढ़ा पाने में सफल होती है। बाबा रामदेव दोनों हथकण्डे अपनाते हैं। बाबा के ट्रस्टों को कोई भी टैक्स नहीं देना पड़ता। धर्म व “देश गौरव” की धुन में मगन बहुत सारे “दानवीरों” का धन (काला या सफ़ेद) भी बाबा के लिए पूँजी की कमी को दूर करता है। धर्म के अन्धे उत्साह में बहुत से स्वयंसेवक बिना मेहनताने के अपना श्रम मुफ्त मुहैया कराते हैं। और फिर मजदूरों के श्रम का भयंकर शोषण करते हैं, जिसके बग़ैर मुनाफ़ा पैदा होने का सवाल ही नहीं उठता। गौरतलब है कि मई, 2005 में न्यूनतम वेतन भी न मिलने की वजह से दिव्य फ़ार्मेसी के मजदूरों ने हड़ताल कर दी थी। जिन्हें बाद में फ़ैक्टरी से निकाल दिया गया। इससे सहज ही अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि बाबा अपने उत्पादों की लागत को कितना कम कर पाने में सफल होता है। जबकि उत्पादों की कीमत बहुत ऊँची रहने से उसका मुनाफ़ा कई गुना बढ़ जाता है। अब बाबा को स्वदेशी की हूक उठती है। बाबा ज़ोर-ज़ोर से प्राचीन भारतीय संस्कृति का गौरव-गान करने लगते हैं, जब लोग योग-बल व आयुर्वेदिक दवाओं का इस्तेमाल कर 200-200 साल निरोग जीते थे। विश्वगुरु भारत की प्रसिद्ध प्राचीन योग परम्परा और आयुर्वेद को अपनाने के बजाय विदेशी कम्पनी व आधुनिक दवाओं के इस्तेमाल करने के लिए बाबा रामदेव देश की जनता को धिक्कारते हैं। पूरे अतीत का महिमामण्डन करते हैं। उन स्वर्णिम दिनों की याद दिलाते हैं जब ‘शेर और बकरी एक घाट पर पानी पीते थे’। लूट और शोषण की शिकार जनता बाबा के भ्रमजाल में अपनी सुध-बुध खो बैठती है। बस इसी समय बाबा अपने योग का गुटका व दवाओं की पोटली निकालते हैं। बाबा कहते हैं कि दवा खरीदने से विश्वगुरु भारत की महान योग परम्परा की हिफ़ाज़त होगी। लोग निरोग होंगे और पुनः रामराज्य की वापसी होगी। दिव्य दवाइयों की बिक्री बढ़ती है और बाबा खटारा स्कूटर से 1100 करोड़ डॉलर वाले ट्रस्टों के स्वामी बन जाते हैं। पर पूँजी की अपनी गति होती है। बाबा स्वदेशी का जाप करते-करते अरबों रुपयों से विदेश में (विदेश में!) अमेरिका के ह्यूसटन में 100 एकड़ ज़मीन खरीद लेते हैं और स्कॉटलैण्ड में एक द्वीप! और अब स्वदेशी बाबा विदेशी अमेरिकी कम्पनी के साथ उत्पादन करने जा रहे हैं। उम्मीद है कि बाबा के स्वदेशी राग का सुरताल तो अब समझ ही गये होंगे।

समझ गये! तो चलिये थोड़ी बात बाबा के भ्रष्टाचार विरोधी अभियान

पर! बाबा रामदेव का भ्रष्टाचार पर गुस्सा प्राचीन पौराणिक क्रोधी ऋषि दुर्वासा से कम नहीं है। वह अपने भारत स्वाभिमान अभियान के दौरान ऐलान करते हैं कि भ्रष्टाचारियों को सूली पर चढ़ाकर उनके शवों पर रासायनिक लेप लगाकर उन्हें 'ममी' के रूप में सुरक्षित रखने का क़ानून बना देंगे। आइये, देश में भ्रष्टाचार से क्रोध की आग में जलकर कण्डा बने बाबा रामदेव के भ्रष्टाचरण को देखें। और उसके बाद तय करें कि 'ममियों' की सूची में कितने नाम और होने चाहिए। इसके लिए रामकिशन यादव से बाबा रामदेव बनने तक यानी 3 कमरों से 1100 करोड़ के टर्नओवर वाले 2 ट्रस्टों और अरबों रुपयों में अमेरिका व स्कॉटलैण्ड में एक द्वीप के मालिक बनने तक की बाबा की जीवन यात्रा पर एक नज़र डालना ज़रूरी होगा। शुरू में रामकिशन, आचार्य बालकृष्ण और आचार्य करमबीर कृपालुबाग आश्रम में स्वामी शंकरदेव के शिष्य बनकर रहना शुरू किये। यहीं उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और रामदेव बने। 5 जनवरी 1995 को स्वामी शंकरदेव के साथ इन तीनों ने 'दिव्य योग' नाम से एक ट्रस्ट बनाया। स्वामी शंकरदेव की सारी सम्पत्ति को भी इस ट्रस्ट में शामिल कर लिया गया। ट्रस्ट बनने के 2-3 सालों में ट्रस्ट में शामिल अन्य न्यासियों को तमाम आरोप लगाकर धीरे-धीरे निकाल दिया गया। फिर बाबा रामदेव और आचार्य बालकृष्ण ने अपने गुरु स्वामी शंकरदेव से यह भी लिखवा लिया कि न्यास के विघटन की दशा में न्यास की सम्पत्ति समउद्देश्य वाले किसी न्यास को हस्तान्तरित हो जायेगी। 2007 में इनके गुरु शंकरदेव रहस्यमय परिस्थितियों में लापता हो गये, जिनका आज तक कहीं पता नहीं चल पाया। इस न्यास पर क़ानूनी और वास्तविक तौर पर स्वामी रामदेव और बालकृष्ण का अधिकार हो गया।

खुद को ग़रीब किसान का बेटा कहने वाले बाबा रामदेव किसानों के दुख से बेकल हो उठते हैं और सरकार को कोसते हैं कि सरकारों ने देश के किसानों का जमकर शोषण किया है, इनकी ज़मीनों को हड़पने के लिए सरकारों ने अलग-अलग अधिग्रहण क़ानून बनाये हैं। इन क़ानूनों के ज़रिये सरकारें किसानों की ज़मीनें औने-पौने दामों में ख़रीदकर उद्योगपतियों को सौगात में देती हैं। इस सच को हम भी स्वीकार करते हैं। परन्तु बाबा के इस सच को भी हम उजागर करना चाहेंगे कि बाबा का किसानों के दुःखों को लेकर बेकली कितनी पाखण्डपूर्ण है। इस ग़रीब के बेटे ने खुद किसानों को तबाह करके अवैध तरीके से उनकी ज़मीन का अधिग्रहण किया है। इसके चन्द उदाहरण आपके समक्ष हैं - उत्तराखण्ड राज्य बनने के बाद 2004 में कांग्रेस सरकार द्वारा बनाये भू-संशोधन क़ानून के अनुसार राज्य में बाहरी निवासी केवल 500 वर्ग मीटर भूमि ही ख़रीद सकते थे। पर तब तक बाबा रामदेव ने 800 बीघे से भी अधिक ज़मीन इकट्ठा कर ली थी। 2007 में

उत्तराखण्ड में भाजपा सरकार आने के बाद बाहरी व्यक्ति को 250 वर्ग मीटर से अधिक ज़मीन बिना इजाज़त के नहीं मिलने का प्रावधान किया गया। पर यह नियम बाबा के लिए काम नहीं करता। 2008 के जुलाई महीने तक 2 शासनादेशों के जरिये बाबा रामदेव को 1700 बीघे ज़मीन ख़रीदने की इजाज़त मिली। यह ज़मीन किसानों से औने-पौने दामों में ख़रीदी गयी। इनमें से मुस्तफ़ाबाद की 800 बीघा ज़मीन को बाबा ने औद्योगिक पार्क में बदलने के लिए शासन को प्रस्ताव भेजा है। हरिद्वार में रियल एस्टेट के एक दिग्गज के अनुसार औद्योगिक क्षेत्र घोषित होते ही बड़ा खेल शुरू होगा। तब यह भूमि गज के हिसाब से बिकेगी और वह भी ख़रीद मूल्य से कई गुना ज़्यादा कीमत में। यहाँ सहयोगी इकाइयाँ लगाने के लिए उद्योगों को बुलाया जायेगा। यानी माल बनाने वाले बाबा की शर्तों पर ज़मीन ख़रीद कर निवेश करेंगे और फिर बाबा उस माल को अपने ब्राण्ड से बेचेंगे।

हरिद्वार तहसील के औरंगाबाद गाँव के लोगों का आरोप है कि बाबा ने योग-ग्राम की आड़ में ग्राम समाज की लगभग 200 बीघा ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर रखा है। योग-ग्राम के दोनों ओर बरसाती नदी रतमउ बहती है। बाबा के चेलों (आजीवन मानवमात्र सेवा व्रतधारियों) ने रतमउ नदी की आधा किलोमीटर लम्बी भूमि को लगभग 20 मीटर चौड़ाई तक भरकर अवैध तरीक़े से विस्तार किया है। इसी गाँव के अजब सिंह चौहान का कहना है कि पिछली बरसात में बाबा के चेलों ने रातोंरात भारी मशीनों की मदद से बाँध बनाकर रतमउ नदी का प्रवाह गाँव के खेतों की ओर कर दिया था जिसके कारण गाँव के ग़रीब किसानों की करीब 1500 बीघा भूमि बालू में बदल गयी। यहाँ से दो किलोमीटर दूर शिवदासपुर गाँव में भी ऐतिहासिक चन्दाताल की ज़मीन अब पतंजलि योगपीठ के क़ब्ज़े में है। बाबा के जिस प्रोजेक्ट में कुछ किसानों ने औने-पौने दामों में ज़मीन नहीं बेची है, उनके बारे में आचार्य बालकृष्ण का कहना है कि ये कुछ अनाड़ी किसानों की ज़मीनें हैं जो इन्हें बेचने को तैयार नहीं, लेकिन जायेंगे कहाँ? झक मारकर हमारे ही पैरों में आयेंगे।

बाबा रामदेव मेहनतकशों का खून चूसने में भी कोई कमी नहीं रखते। गौरतलब है कि मई 2005 में दिव्य फ़ार्मसी के मैनेजर रामभरत ने फ़ार्मसी से उन 90 मजदूरों को नौकरी से निकाल दिया था जो न्यूनतम वेतन देने की माँग कर रहे थे। इसके विरोध में बाकी मजदूरों ने भी हड़ताल कर दी। 16 दिनों की हड़ताल के बाद एक त्रिपक्षीय लिखित समझौते के बाद दिव्य पीठ विभिन्न श्रेणियों में न्यूनतम वेतन देने के लिए सहमत हो गया। लेकिन जब मजदूर फ़ैक्टरी में काम करने गये तो उन्हें अन्दर नहीं जाने दिया गया। उल्टे अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर मजदूरों पर झूठे मुक़दमे भी दायर कराये गये।

आन्दोलन के बाद 114 मजदूर निकाले गये। अब मामला श्रम न्यायाधिकरण में चल रहा है। वास्तव में, देखा जाये तो भारत में ही नहीं समूची दुनिया में कानूनी और गैरकानूनी ढंग से खुलेआम श्रम की लूट मची है। बहुसंख्यक मेहनतकशों की लूट से मुट्ठीभर धनकुबेरों के लिए विलासिता की मीनारें खड़ी की जा रही हैं। तो सबसे बड़ा भ्रष्टाचार तो श्रम की लूट है जिसमें बाबा रामदेव किसी पूँजीपति से पीछे नहीं है।

बाबा के कानून में मिलावटखोरों की सज़ा फाँसी है। वे शुद्धता के बहुत बड़े हिमायती हैं। जबकि इनके कारखानों में काम करने वाले मजदूरों ने ही बताया कि रामदेव की फ़ार्मसी की दवाइयों में जानवरों व मानवों की हड्डियों की मिलावट की जाती है। दवाइयों के विधिवत नमूने लेकर उन्हें जाँच के लिए भेजा गया तो पाया कि फ़ार्मसी द्वारा भारतीय ड्रग और कॉस्मेटिक एक्ट का उल्लंघन हो रहा है।

‘सत्य वचन’ बाबा रामदेव का प्राचीन ऋषिवत आदर्श है। वह सबको सत्य वचन बोलने की सीख देते हैं। बस यह सीख वह अपने ख़ासमख़ास आचार्य बालकृष्ण को देना भूल गये। गौरतलब है बालकृष्ण नेपाली मूल के हैं। लेकिन उन्होंने भारतीय पासपोर्ट के लिए आवेदन करते समय खुद को भारतीय नागरिक बताते हुए अपना जन्मस्थान हरिद्वार दर्शाया था। एलआईयू के अनुसार बालकृष्ण ने झूठे तथ्यों के आधार पर न केवल भारत का पासपोर्ट लिया बल्कि एक पिस्टल और एक राइफल का लाइसेंस भी हासिल किया।

अब जब दुनियावी चीज़ों से दूर इन संन्यासियों के झूठों की बात हो रही है, तो एक-दो झूठ और! 2008 में आचार्य बालकृष्ण ने एकाएक लक्ष्मण की मूर्छा हटाने वाली संजीवनी बूटी खोज निकालने का दावा किया जिससे मनुष्य सैकड़ों साल जियेगा। बाद में ग्रामीणों तथा वनस्पतिशास्त्रियों द्वारा खिल्ली उड़ाने पर चुप्पी साध गये। फिर एक पुस्तक छापकर दावा किया कि च्यवनप्राश में पड़ने वाली जो दिव्य अष्ट वर्ग औषधियाँ विलुप्त हो गयी हैं उन्होंने उसे खोज लिया है। जबकि भारतीय वन अनुसन्धान संस्थान के गजेटियर में 60 के दशक में ही न केवल इन औषधियों का वर्णन है बल्कि उनके चित्र भी छपे हैं।

बाबा वंशवाद, परिवारवाद के बहुत बड़े विरोधी हैं। पर इनके तमाम ट्रस्टों इत्यादि के महत्त्वपूर्ण पदों पर बाबा रामदेव के परिवार के लोग काबिज़ हैं।

तमाम पार्टियों के नेताओं को भ्रष्टाचार के लिए कोसने वाले बाबा रामदेव के पतंजलि कम्पनी लिमिटेड के पैसों से पिछले लोकसभा चुनावों में भाजपा को 10 लाख का चन्दा दिया गया। आरटीआई द्वारा यह बात सामने आने पर बालकृष्ण ने तमाम भ्रष्टाचारियों के साथ अपने गँटजोड़ की पोल यह कहकर खुद ही खोल दी कि उन्होंने कांग्रेस को भी 10 लाख का चन्दा दिया था।

बाबा रामदेव ठहरे साधू आदमी इनको क्या पता कि इन पार्टियों के शासनकाल में ताबूत घोटाला, राष्ट्रमण्डल तथा 2-जी स्पेक्ट्रम जैसे महाघोटाले हुए। इन्हीं पार्टियों के नेताओं का सर्वाधिक काला धन विदेशी बैंकों में जमा है। तो इन भ्रष्टाचारियों को चन्दा! बात हज़म नहीं हुई और बाबा का कोई भी पाखण्ड, कुतर्क या दिव्य दवा बात को हज़म करा भी नहीं सकता। क्योंकि बात हज़म होने वाली है भी नहीं, बात सोचने वाली है। और बात यह है कि चोर-चोर मौसेरे भाई। बात वही है जो फ़्रांस के महान लेखक बाल्जाक ने कहा था कि कोई भी सम्पत्ति साम्राज्य बिना लूट, शोषण, भ्रष्टाचार, अपराध व तीन-तिकड़म के खड़ा ही नहीं हो सकता।

अन्त में थोड़ी बात योग और आयुर्वेद पर। बाबा का दावा है कि योग और अपनी दिव्य दवा द्वारा समस्त बीमारियों से देश ही नहीं विदेश के लोगों को निरोग कर देंगे। एकदम अन्तरराष्ट्रीयतावादी ढंग से। परन्तु अगर हम गौर करें तो पायेंगे कि योग के इस दावे में वो व्याधियाँ (और उनका अंशतः समाधान ही योग द्वारा सम्भव है) ही आ पाती हैं जिनका सम्बन्ध मध्य वर्ग के ख़ाये-पिये, अघाये, मुटियाये, तुन्दियाये लोगों से है। वे व्याधियाँ हैं गैस, कब्ज़ियत, चर्बी, मोटापा, मानसिक तनाव इत्यादि। हम यह नहीं कह रहे हैं कि मेहनत-मशक्कत करने वाली आम आबादी इन व्याधियों से एकदम मुक्त है। परन्तु यह तय है कि इनकी बहुतायत मध्यवर्ग एवं उच्च वर्गों में ही मिलती है। जबकि इस देश की 84 करोड़ आबादी जो खुद सरकार द्वारा गठित अर्जुन सेनगुप्ता कमेटी के मुताबिक़ रोज़ाना 20 रुपये या उससे भी कम खर्च कर पाती है, यह आबादी हाड़तोड़ मेहनत, कार्यस्थल पर अस्वास्थ्यकर परिवेश, पौष्टिक भोजन ग्रहण कर पाने की असमर्थता, गन्दी बस्तियों (जहाँ न पीने का साफ़ पानी है और न ही साफ़ शौचालय, खुली नालियों में जहाँ गन्दगी बजबजाती रहती है) में रहने की मजबूरी, बेहतर डॉक्टर, अस्पतालों की सुविधा व दवाइयाँ न ख़रीद पाने के कारण कुपोषण, रक्ताल्पता, पीलिया, टीबी, हैजा, असमय मृत्यु जैसी बीमारियों के शिकार है। हमारा सवाल यह है कि 33 करोड़ लोग जो एक ही जून भोजन कर पाते हैं, उनके पेट में क्या योग व दिव्य दवा भोजन डाल सकता है? 46 प्रतिशत रक्ताल्पता की शिकार औरतों की नसों में क्या योग रक्त का प्रवाह पैदा कर सकता है? रोज़ाना कुपोषण जनित रोगों के कारण मरने वाले 9000 बच्चों को क्या योग व दिव्य दवा जीवन दे सकता है? (सभी आँकड़े राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार) आप सोच रहे होंगे कि ये तो ज़्यादा हो रहा है, भई योग इनको कैसे दूर कर सकता है? हाँ! दोस्तो ठीक हम भी यही कहना चाह रहे हैं कि योग व दिव्य दवा इनको क़तई दूर नहीं कर सकता है। तो बाबा रामदेव का योग द्वारा विश्व को समस्त व्याधियों से मुक्त

कराने का पाखण्डपूर्ण अनर्गल प्रलाप क्या लोगों का ध्यान हटाकर मूल बीमारी पर पर्दा डालने की कोशिश नहीं है? भ्रष्टाचार विरोधी शोर मचाकर भी वह यही करता है। जबकि मूल बीमारी है लूट और शोषण पर टिकी मौजूदा व्यवस्था। ज़रा कल्पना कीजिये कि एक ऐसी मानव केन्द्रित समानता मूलक व्यवस्था हो जिसमें हर व्यक्ति शारीरिक व बौद्धिक श्रम दोनों करता हो, थोड़े से लोग कुर्सी न तोड़ते हों और बहुसंख्यक आबादी 10 से 12 घण्टे हाड़तोड़ मेहनत करने के लिए मजबूर न हो। मुनाफ़े की गलाकाटू प्रतियोगिता में सामानों को गोदामों में बन्द करके या नष्ट करके लोगों को अभाव व दरिद्रता में दर-दर भटकने के लिए मजबूर न किया जाता हो, मुनाफ़े की अन्धी हवस में खाद्य सामाग्री से लेकर पूरे पर्यावरण को प्रदूषित कर विषाक्त न किया जाता हो, सभी को बेहतर पौष्टिक खाना, साफ़-सुथरा वातावरण मिलता हो (जो कि आसानी से सम्भव है) तो पूरे दावे के साथ कहा जा सकता है कि हर तरह की बीमारियों की दर आश्चर्यजनक रूप से घट जायेगी। जिन देशों में ऐसी व्यवस्था अस्तित्व में आयी, उन देशों के इतिहास ने इस बात को काफ़ी पहले साबित कर दिया है। लेकिन इसके लिए तो पहले लूट और शोषण पर टिकी मौजूदा मुनाफ़ा केन्द्रित व्यवस्था को उखाड़ना होगा। पर इसी व्यवस्था में ही बाबा रामदेव जैसों के वारे-न्यारे हैं। तो भला ये ऐसा क्यों चाहेंगे? पूँजीपति मेहनतकशों को तबाह करके, खून-पसीना निचोड़कर अपनी तिजोरी भरता है। तो बाबा रामदेव जैसे लोग, लोगों की बीमारी को दूर करने का स्वाँग रचते हुए दिव्य दवा बेचकर अपनी तिजोरी भरते हैं।

आज के अँधेरे दौर में यह बात सच है कि जनता के पिछड़ेपन, ठहराव व परिवर्तनकारी शक्तियों की ताक़त कमजोर होने का लाभ तमाम पाखण्डी, अन्धराष्ट्रवादी, धार्मिक-फ़ासीवादी उठा रहे हैं। पर आज नहीं कल जनता इनके कुकृत्यों को समझेगी। मौजूदा लुटेरी व्यवस्था से इनके नाभिनाल सम्बन्ध को समझेगी। वह जानेगी कि मेहनत की लूट पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था पर ही ऐसे ज़हरीले खरपतवार उगते हैं। वह जागेगी और मौजूदा व्यवस्था के साथ-साथ इन पाखण्डियों को भी इतिहास की बहुत गहरी क़ब्र में दफ़न करेगी। और निश्चित रूप से जनता इन पाखण्डियों को 'ममी' के रूप में तो क्या किसी अभिलेख में भी सुरक्षित रखने की ज़रूरत नहीं समझेगी।

(आह्वान, मार्च-अप्रैल 2011)

जिस पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन सामाजिक उपभोग को केन्द्र में रखकर नहीं बल्कि मुनाफ़े को केन्द्र में रखकर होता है, वह यदि एकदम क़ानूनी ढंग से काम करे तो भी अपनेआप में ही वह भ्रष्टाचार और अनाचार है। जो पूँजीवाद अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक गति से धनी-ग़रीब की खाई बढाता रहता है, जिसमें समाज की समस्त सम्पदा पैदा करने वाली बहुसंख्यक श्रमिक आबादी की न्यूनतम ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो पातीं, वह स्वयं एक भ्रष्टाचार है। जिस पूँजीवादी लोकतन्त्र में उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे को चलाने में सामूहिक उत्पादकों की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं होती और निर्णय की ताकत वस्तुतः उनके हाथों में अंशमात्र भी नहीं होती, वह एक 'फ़्रॉड' है। जो पूँजीवादी राजनीतिक तन्त्र नागरिकों को काम करने का मूलभूत अधिकार नहीं देता और सम्पत्ति को मूलभूत अधिकार का दर्जा देता है, वह स्वयं में एक भ्रष्टाचार है।

... भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ाई अपनेआप में कोई स्वतन्त्र लड़ाई नहीं है। यह पूँजीवादी-व्यवस्था विरोधी संघर्ष के एक हिस्से के रूप में ही लड़ी जानी चाहिए। यह जनता की जनवादी चेतना को उन्नत करने और उसके जनवादी अधिकार की लड़ाई का ही एक अहम मुद्दा है। हमारा काम इस व्यवस्था के दामन पर लगे दागों को धोना नहीं हो सकता। "भ्रष्टाचार-मुक्त शोषण" हमारा लक्ष्य नहीं हो सकता। भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष को रान्यसत्ता के चरित्र को उद्घाटित करने और उसके विरुद्ध व्यापक संघर्ष की एक कड़ी बनाया जाना चाहिए।

(इसी पुस्तिका से)



राहुल

फ़ाउण्डेशन

ISBN: 978-93-80303-51-2

मूल्य: ₹. 25.00